वाचस्पति मिश्र

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ–रानी के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है । भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख ।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

वाचस्पति मिश्र

राजेन्द्र प्रसाद दुबे

साहित्य अकादेमी

Vachaspati Mishra : Monograph on Sanskrit writer by Rajendra Prasad Dubey in Hindi, Sahitya Akademi, New Delhi (1998) Rs. 25

प्रथम संस्करण 1998

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, ३५, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा भवन, चौथी मंजिल, 23 ए/44एक्स
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थसंग्रहालय मार्ग, दादर,
मुम्बई 400 014

ए.डी.ए. रंगमंदिर, 109, जे. सी. मार्ग.
बंगलौर 560 002

चेन्नई कार्यालय

304&305 अन्ना सालई, तेनामपेट,
चेन्नई 600 018

ISBN : 81-260-0311-1

मूल्य : पच्चीस रुपये

शब्द संयोजक : पेज शोभा, करोल बाग, नई दिल्ली

मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

विषय-सूची

आमुखी

भारतीय दर्शन में वाचस्पति नवीं शताब्दी का एक ऐसा नाम है जो किसी-न-किसी रूप में प्रमुख दर्शनों के साथ अवश्य ही जुड़ा हुआ है। इन्होंने आस्तिक-नास्तिक दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों पर टीकाएँ लिखी हैं। सांख्य—योग, न्याय, पूर्वमीमांसा और वेदान्त पर इनके ग्रंथ तो विद्यमान हैं ही, नास्तिक दर्शन पर टीका लिखने का प्रसंग भी प्रस्तुत पुस्तक में सविस्तार वर्णित है।

बिहार की मिथिला भूमि के इस अगाध आचार्य की जीवनी के विषय में बहुत पहले से ही मेरे मन में जिज्ञासा थी, जब मैं मिथिला-शोध संस्थान में अध्ययन कर रहा था। चूँकि वाचस्पति मिश्र ने अपने जीवन-वृत्तान्त के विषय में बहुत कुछ अपनी कृतियों में नहीं लिखा, इसलिए दरभंगा में चर्चित इनके जन्म-स्थान पर कई बार मैं गया और आस-पास के वृद्ध एवं विद्वानों से इनके बारे में पूछ-ताछ की। न्याय-सूची निबंध और भामती आदि कुछ टीका ग्रंथो को छोड़कर इनकी जीवनी का पूरा का पूरा आधार मिथिला में प्रचलित जनश्रुतियाँ हैं, जिन्हें मैंने यथावत् रूप में प्रमाणित ढ़ंग से एकत्र किया था, आज पुस्तक के रूप में आपके हाथ में है।

आठवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के बीच तक वाचस्पति नाम की एक शृंखला-सी संस्कृत साहित्य में मिली है। इसका कारण वाचस्पति मिश्र की अप्रतिम प्रतिभा और विपुल विद्या-कीर्ति है, जिसको शुभ और फलदायी मानकर विभिन्न लोगों ने अपने नाम के लिए भी अपनाया। ऐसे वाचस्पतियों की संख्या सात है, जिसमें से प्रसिद्ध दर्शनकार वाचस्पति मिश्र तथा इनकी विविध रचनाओं की शैली और भाषा की विशिष्टताओं के साथ मैंने सप्रमाण पहचान कर इस ग्रंथ में उपस्थित किया है।

भारतीय न्याय दर्शन को बौद्धों के हाथ से नष्ट होने से बचाने का पूर्ण श्रेय वाचस्पति मिश्र को ही है। न्यायसूची-निबंध इनके इसी प्रयास का परिणाम है और तात्पर्य-टीका न्याय के विश्लेषण में फँसे हुए लोगों के लिए विवेचना-शक्ति है। भामती इनके दार्शनिक विचारों की अंतिम परिणति है।

इसमें दर्शन के जीव-अविद्याविषयक सारे विवादों का इन्होंने निर्णय सुना दिया है। प्रमाणों के स्वरूप विवेचन का आधार मुख्य रूप से न्याय और सांख्य है, जैसा कि वाचस्पति ने **तात्पर्यटीका** और **सांख्यतत्त्व कौमुदी** में विवेचित किया है। षड्दर्शनपंचानन और दर्शनकेसरी के नाम से अपनी परिचिति बताने वाले इस विद्वान ने प्रमाण और प्रमेय दोनों की स्थापना में प्रकरण ग्रंथ लिखे। 'त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्' की ईश्वरकृष्ण की मान्यता को यथार्थ सिद्ध करते हुए भी इन्होंने न्यायसम्मत 'प्रत्यक्षानुमानोपमानागमाः प्रमाणानि' के आधार पर प्रमाण चतुष्टय की मान्यता को आवश्यक बताया है।

हाँ, वेदान्त दर्शन में प्रतिपादित प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि में वाचस्पति का अन्तिम दो प्रमाणों के विषय में कोई आग्रह नहीं है। इस ग्रंथ के दशम पाठ में उक्त मत का विवरण सांख्य और न्याय की रस्मों के आधार पर प्रस्तुत है। प्रमेय विषयक इनके सिद्धान्तों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इस बढ़ती हुई विविधता और भीड़ को इन्होंने एकत्व या एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है और सफल भी हुए हैं। आज के भीड़तन्त्र के लिए इनकी भामती उपयुक्त उत्तर है।

पदार्थ-गति की परिष्कृति और प्रगति में सांसारिक भावनाओं से असंपृक्तता को अव्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। इसलिए मैं एकमात्र दमयन्ती प्रकृति को इस बुद्धि का मौलिक स्रोत मानता हूँ। लेखक की सबसे बड़ी समस्या उसकी अनुभूति का प्रकाशक तक पहुँचना है। साहित्य अकादेमी, का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस प्रस्तुति के लिए अवसर प्रदान किया। कृति की पूर्णता में जिन उदात्तचरित्र और सहज व्यवहार वाले स्वनामधन्य विद्वानों की असीम तथा निष्कलुष सहायता मिली है, मैं उनका कृतज्ञ हूँ, तथा उस मात्रा को शब्दों से नहीं व्यक्त कर पा रहा हूँ। अगर इस ग्रंथ से पाठकों की दार्शनिक पिपासा की कुछ भी शान्ति हुई तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगा।

नवम्बर, १९९२ **राजेन्द्र प्रसाद दूबे**

1

भारतीय दर्शन और वाचस्पति मिश्र

शास्त्र चिन्तन का आधार ज्ञान है। इसके अभाव में कोई विश्लेषणात्मक प्रक्रिया शुरू नहीं की जा सकती है। शासन या शंसन करने वाला शास्त्र सत्तात्मक है। उसके बोध के लिए ज्ञान-वृत्ति आवश्यक है। विचार का इतिहास वहीं से प्रारम्भ होता है। इसी क्रम में हमारा पर्यालोचन शुरू होता है और तब हमें जो उपलब्धि होती है वही ज्ञान का परिणाम हो सकता है। ज्ञान, सत्ता, विचार और लाभ इन चारों तत्त्वों का एकत्र संकलन जहाँ उपस्थित है, उसी की संज्ञा वेद है। इसी कारण भारतीय साहित्य का उद्भावक यही अपौरुषेयशास्त्र स्वीकृत किया जाता है। वर्तमानता, ज्ञेयता और अभिधेयता जिसमें होती है, उसका अभिधान पदार्थ के रूप में किया जाता है। वह पदार्थ प्रत्यक्ष रूप में कोई न कोई व्यवहार निष्पादन करता है। उसका एक पक्ष ऐसा भी है जो किसी न किसी आकृति से युक्त है परन्तु वह परोक्ष है। उस स्वरूप को जानने वाली कल्पना होती है जिसके माध्यम से हम उस रूप को उपस्थित कर डालते हैं। यह अंश दृष्ट पदार्थ में भी छिपा रहता है। इसलिए दर्शन तथा कल्पना को समन्वय पदार्थ की पूर्णता मानी जानी चाहिए। इसका यह अर्थ कतई नहीं कि दोनों अलग-अलग अपूर्ण हैं। स्थिति तो यह है कि अपनी सीमा में दोनों ही वस्तु को प्रस्तुत करने वाले स्वतंत्र एंव निरपेक्ष स्रोत हैं। मूल तत्त्व का अनुसंधान करने वाली प्रत्यक्षात्मक दृष्टि "दर्शन" है। इसके द्वारा पदार्थ का वास्तविक बोध हो जाता है और तब परमानन्द की प्राप्ति होती है जो स्थायी है। कल्पना के आश्रय पर जो आनन्दोपलब्धि होती है वह कल्पित होने के कारण किंचित क्षण स्थायी है, इसलिए अपेक्षाकृत इसे न्यून माना गया है। इसका कारण कुछ अन्य नहीं, अपितु मनुष्य की मूल-प्रकृति है। मनुष्य ही भौतिक और आध्यात्मिक तथ्य का मापदंड है। इसीलिए मानव के सुख और आनंददायक वस्तु को पारमार्थिक माना गया है। उस वस्तु की जिज्ञासा और प्राप्ति जहाँ होती है, वही दर्शनशास्त्र है।

दर्शन की वेदमूलकता इसलिए सिद्ध है कि इसका प्रतिपाद्य विषय वहीं प्राप्त होता है। जीव-जगत्, ईश्वर और ब्रह्म आदि का जो विकसित स्वरूप भारतीय दर्शन में दीख पड़ता है, उसकी कुंजी वेद में ही है। विषय की व्यापकता के कारण इसके

चार विभाग किए जाते है जिन्हें वैदिक साहित्य कहा गया है। वे हैं– संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। वेद का एक भाग संहिता है जिसमें देवताओं की स्तुतियां दुख से मुक्ति पाने के लिए की गई हैं। ब्राह्मण भाग में यज्ञपरक मन्त्रों की व्याख्या है जिसमें क्रतु संबंधी विधानों की विशेष रूप से विवेचना की गई है। प्रत्येक वेद का अपना-अपना ब्राह्मण है। यज्ञयागादि का प्रतिपादक होने पर भी इस में दार्शनिक विचारों के वर्णन का अभाव नहीं है। अतएव आत्मा आदि के अन्वेषण में ब्राह्मण साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आरण्यक ग्रंथ ब्राह्मण साहित्य के सहायक हैं। और अनेकांत से दूर एकांत में ले जाकर यज्ञों के रहस्य को प्रकट करते हैं। दार्शनिक तथ्यों का इसमें विशेष वर्णन मिलता है। इसीलिए कुछ महत्त्वपूर्ण उपनिषद् आरण्यक ग्रंथों के ही अंश हैं, जैसे ऐतरेय उपनिषद्, ऐतरेय आरण्यक, बृहदारण्यकोपनिषद्, कौषितकी आरण्यक, कौषितकी उपनिषद् इत्यादि। एवम्प्रकारेण आरण्यक ग्रंथ भी दर्शन के चिंतन को मार्ग देता है। वेद का उपनिषद् भाग तो मौलिक रूप से अध्यात्मप्रधान मन्त्रों का ही संग्रह है। उपनिषद् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–वह विद्या या शास्त्र जिसके अध्ययन से अविद्या का निश्चित रूप से नाश होता है और तब मुमुक्षु ब्रह्मविद्या के समीप जाकर उसका साक्षात्कार प्राप्त करता है जिससे संसार के बंधन शिथिल हो जाते हैं।[1] स्पष्ट है, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और सृष्टिज्ञान से संबंधित विचारों एवं अनुभवों का संकलन उपनिषद् हैं। इस तरह मूल समस्या का समाधान यहीं होने से इसका व्यापक महत्त्व स्वीकार्य है। फ्रांस के एक विद्वान डू पेरोन ने उपनिषद् का लैटिन में अनुवाद किया है जो पूर्ण नहीं है। उसे पाश्चात्य विद्वान शोपेनहावर ने पढ़ा। उस विषय ने इसे बहुत अधिक प्रभावित किया और अंत में इसने कहा– 'उपनिषद् सर्वोच्च मानवीय ज्ञान और प्रतिभा के फल हैं।'

उपनिषदों के अन्दर ऐसे दार्शनिक तत्त्व हैं जो मानव की पहुँच से परे हैं।[2] शोपेनहावर ने यह भी कहा कि उपनिषद् ने मेरे जीवन में शान्ति दी है और मरने के समय भी शान्ति और सान्त्वना देंगे।[3]

इसलिए उपनिषद् को ही दार्शनिक तत्त्वों का प्रौढ़ प्रतिपादक ग्रंथ माना जाता है। इसके अनंतर दर्शन में जो भी विचार किया गया, सबों की जड़ उपनिषद् से ही लगी हुई हैं। परन्तु भारतीय चिन्तन-मनन की प्रक्रिया में कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय हुए जिन्होंने इनकी प्रमाणता को नहीं स्वीकार किया। इन्हें हम नास्तिक दर्शन कहते हैं– **नास्तिको वेदनिन्दकः**। इसका अर्थ यह नहीं कि इनका ज्ञान वेद या वैदिक भाग से असंपृक्त है। है तो सटा हुआ ही परन्तु विपरीत पद्धति में, आलोचना की दृष्टि में। वेद मार्गों का आदर नहीं करना ही इनकी नास्तिकता है। आस्तिक दर्शन के उपनिषद् उपजीव्य हैं।

वेद मन्त्र या वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग उपनिषद् ही हैं। इसलिए इसको वेदान्त भी कहते हैं। विद् ज्ञानार्थक धातु ने आते-आते जहाँ अंत-निश्चय प्राप्त कर

लिया वह वेदान्त है। प्रतीत होता है, वेद अर्थात ज्ञान की निश्चितता जहाँ है, वही वेदान्त है जो उपनिषद् है। ज्ञानकाण्ड की मीमांसा मुख्यतः इसी साहित्य में हुई भी है। इस विवेचन की पद्धति में गुरु-शिष्य की परम्परा दीख पड़ती है। **कठोपनिषद्** में यम-नचिकेता का उपाख्यान, **बृहदारण्यकोपनिषद्** में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी आदि संवाद इस व्यवस्था को बताते हैं कि जिज्ञासु या शिष्य गुरु के {उप} समीप में {निसद् – गत्यर्थक धातु} जाकर, बैठकर ज्ञान प्राप्त करता था और संदेह उपस्थित करने पर परस्पर समाधान भी किया जाता था। अध्ययन-अध्यापन की विधि से ज्ञान परिमार्जित रूप में उपलब्ध होता था। वेद की अन्तिम परिणति और शैली की इस उदात्तता ने वेदान्त दर्शन की व्यापकता को परिपुष्ट किया।

यह तो हुई वेदान्त की प्राचीनता एवं महत्ता की बात, किन्तु ज्ञान प्रथमतः स्थूल वस्तु को ग्रहण करता है और ज्ञान के निम्न स्तर में ही वह रूप गृहीत है। इसलिए दर्शन में स्थूलतम पदार्थ के स्वरूप का विश्लेषण प्रारम्भिक अवस्था को प्रतिपादित करने वाले चार्वाक् दर्शन में पहले उपलब्ध होता है। कली के पुष्प में विकसित होने की तरह ज्ञान भी क्रमशः विकास को प्राप्त करता है। इस तरह विचार में भी क्रमिक सूक्ष्मता आती है। दार्शनिक विचार स्थूल चार्वाक् से शुरू होकर सूक्ष्म स्थिति में आते-आते माध्यमिक के शून्य में पर्यवसित होता है। दर्शन-जगत का यह चिन्तन क्रम अपनी सत्ता को ही क्षणिक सिद्ध कर डालता है। स्व-पर की सिद्धि में हमारा **स्वयं** अस्तित्वहीन हो जाता है। इसलिए अनुभववाद की इस पद्धति को छोड़कर हम बुद्धिवाद के धरातल पर पहुँचते हैं। शून्य के रूप में बिखरी हुई वस्तुओं के कणों को न्याय वैशेषिक अपनी बुद्धि से जुटाना शुरू करता है और परमाणुओं के संयोग से पुनः सृष्टि होती है। सांख्य दर्शन में वस्तु गुणात्मक हो जाती है। दो स्वतंत्र तत्त्व प्रकट हो जाते हैं – प्रकृति और पुरुष। विवेक ज्ञान के अभाव में दोनों के मिथुनीभाव से जगत् उत्पन्न होता है और विवेक ख्याति से पुरुष के उपरमित हो जाने पर मोक्ष होता है। पतंजलि ने इस मोक्ष को योग के द्वारा प्राप्त करने की विधि बतलाई है और इस तरह सांख्य के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रदर्शन योगदर्शन में मिलता है। परन्तु दो स्वतंत्र तत्त्वों के वर्तमान रहने पर कालांतर में अव्यवस्था तो निश्चित ही है, इसलिए एक नया विचार-मार्ग समाधान के लिए मिलता है, जिसका प्रदर्शन वेदान्त दर्शन में होता है। ज्ञान की बहुविध विवेचना के बाद वेदान्त का प्रतिपादन है, इसलिए यहाँ जिस आंधार को हम प्राप्त करते हैं, वह अनिर्वचनीय है। सभी वैविध्यों का अंत हो जाने से एक ही सत्ता अवशिष्ट रहती है और तब हमें द्वैत-भय नहीं व्यापता है। यह विचारधारा वेदान्त के अंदर से निकलती है, जिसका उद्भव उपनिषद् से है और संग्रह शारीरिक सूत्र में – **वेदान्तनाम उपनिषत्प्रमाणं तत्रोपकारकाणि शारीरकसूत्रादीनि।** इन सूत्रों पर अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार भाष्य लिखे गये, जिनमें ग्यारह वर्तमान हैं।[४]

१ शांकरभाष्य (७८८–८२०)
२ भास्करभाष्य (६वीं शताब्दी)
३ रामानुजभाष्य (१२वीं शताब्दी)
४ निम्बार्कभाष्य (१३वीं शताब्दी)
५ श्रीकण्ठभाष्य (१३वीं शताब्दी)
६ श्रीकरभाष्य (१४वीं शताब्दी)
७ वल्लभभाष्य (१४७६–१५४४ ई.)
८ विज्ञानभिक्षु भाष्य (१६वीं शताब्दी)
६ बलदेवभाष्य (१८वीं शताब्दी)
१० शक्तिभाष्य (२०वीं शताब्दी)

ब्रह्मसूत्र के शांकर इत्यादि ग्यारह भाष्य स्वयं स्वतंत्र ग्रंथ हैं, क्योंकि इनकी रचना का आधार वैयक्तिक अनुभव और सिद्धांत हैं। प्राचीनता की दृष्टि से आचार्यवर शंकर के भाष्य का नाम सबसे पहले आता है। इनकी दृष्टि में ब्रह्म ही एक मात्र सत् है, जिसमें चित् और आनन्द भी है। यह संसार मायाकल्पित होने से असत् है। इसकी प्रतीति प्रातिभासिक और व्यावहारिक है। पारमार्थिक सत् एकमात्र ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस तरह के दार्शनिक विचार के कारण शंकर को अद्वैत वेदान्त का प्रतिष्ठापक आचार्य माना जाता है। इसी सिद्धान्त को सामने रखकर उन्होंने **ब्रह्मसूत्र** का भाष्य किया। प्रांजल और प्रवाहपूर्ण शैली में रचित होने के बावजूद भी अद्वैत वेदान्त का प्रारम्भिक और मौलिक ग्रंथ होने के कारण विषय गंभीर है, इसलिए शंकर के अनुयायी विद्वानों ने इसकी टीकाएँ शुरू कीं। श्री पद्मपादाचार्य ने शंकरभाष्य पर **पंचपादिका** टीका लिखी। यह चतुःसूत्री पर्यन्त उपलब्ध है। प्रकाशात्मयति ने भाष्य को मूलरूप में ध्यानगत करते हुए "पंचपादिका" पर **विवरणव्याख्यान** लिखा। यह भी चतुःसूत्री तक ही लिखा गया है। विद्यारण्य स्वामी ने इसी क्रम में **विवरण-प्रमेय संग्रह** लिखा। परन्तु भाष्य का आद्यन्त और सांगोपांगविवेचन जिस दार्शनिक शिरोमणि ने किया वस्तुतः वह अद्वैत वेदान्त की परम्परा में अग्रणी और चिरस्मरणीय है। वेदान्त के बृहस्पति के रूप में अवतरित इस विद्वान का नाम वाचस्पति मिश्र है, इन्होंने भाष्य पर **भामती प्रस्थान** लिखा है। अद्वैत मत की सिद्धि इतनी निष्ठा के साथ इन्होंने कर दी कि शांकरभाष्य पर अब कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं रही और भाष्य की टीका का क्रम यहीं आकर पूर्ण हो गया।

दर्शन के क्षेत्र में मुख्यतः उपनिषद्, गीता, और ब्रह्मसूत्र को मानदण्ड और स्तरीय ग्रंथ स्वीकार किया जाता है। इन तीनों का सम्मिलित नाम **प्रस्थान-त्रयी** है। येषु ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता अर्थात् जिन पर ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित है वे ही प्रस्थान शब्द से

बोध्य हैं। इस तरह ये ही प्रस्थानग्रंथ वेदान्त दर्शन के आधारक साहित्य हैं। इनकी प्रसिद्धि इस रूप में व्यापक हुई कि एक तरह ये तीनों ग्रंथ वेदान्त के पर्याय रूप में प्रयुक्त होने लगे। वैदिक साहित्य के अन्त में रचित होने के कारण उपनिषद् को वेदान्त के नाम से भी अभिहित किया जाता है, और उपनिषदों की व्याख्या के लिए निर्मित होने से ब्रह्मसूत्र आदि की रचना हुई, इसलिए उन्हें भी वेदान्त पद से कहा जाने लगा। सदानन्द ने उपनिषद् का अर्थ करते हुए बताया भी है 'उपनिषद् और उसके बोध के लिए उपकारक शारीरिक सूत्र इत्यादि वेदान्त है।'[५] शारीरिक का अर्थ है, शरीरों में रहने वाला, जीवात्मा जो शरीर का संचालक है, अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति वाला है और परमात्मा से भिन्न है। व्यास ने इन सब धर्मों का प्रतिपादित करने के लिए जिन सूत्रों का प्रणयन किया वे सूत्र **शारीरिकसूत्र** के नाम से प्रचलित हैं। परन्तु मूल रूप में जीव, ईश्वर और ब्रह्म में कोई भेद नहीं – इस सिद्धान्त का औपनिषदिक वर्णन प्राप्त होने से व्याससूत्र को 'ब्रह्मसूत्र' भी कहते हैं। इस तरह उपनिषद् का *आधार लेकर शरीर अर्थात् आत्मा-परमात्मा और ब्रह्म के विषय में विवेचन करने* वाले सूत्रों को 'शारीरिक सूत्र' कहा गया है। ये दोनों नाम पर्यायवाची की तरह विषयगत दृष्टि से समानता के कारण दर्शन में प्रयुक्त हैं। उपयोगिता और महत्ता की दृष्टि से उपनिषद् के बाद ब्रह्मसूत्र को उत्कृष्ट स्थान मिला। इसमें सूत्रों की संख्या कुल मिलाकर ५५४ है। विषय को दृष्टि में रखते हुए ग्रंथ को चार अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस विभाजन के अतिरिक्त ग्रंथ का विभाग 'अधिकरण' के नाम से भी है, जिस की संख्या ४३ है। अधिकरण का अर्थ सामान्यतः प्रकरण है जिसका नामकरण विषय की दृष्टि से किया गया है। अधिकरणों में सूत्रों की संख्या एक भी है और कहीं आठ–दस भी। 'अधिकरण' के भीतर पाँच अवयवों का विश्लेषण किया जाता है -- विषय, विविषय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और प्रयोजन के भीतर प्रतिपाद्य विषय पर संदेह किया जाता है। 'पूर्वपक्ष' में संदेहों को सतर्क प्रस्तुत करने के बाद 'उत्तरपक्ष' में उसका समाधान होता है और सिद्धान्त का निर्बाध स्थापन अन्तिम अवयव है, जो "प्रयोजन" है। इसी शैली में ब्रह्मसूत्र का प्रतिपाद्य हमारे सामने है।

प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वयाध्याय' है। प्रारंभ में ब्रह्मजिज्ञासा शास्त्र के आरम्भ की प्रतिज्ञा है। इसमें १३४ सूत्र और २६ अधिकरण हैं। जगत् का हेतु ब्रह्म है, क्योंकि संपूर्ण शास्त्र उसी की ओर निर्देश करते हैं। साथ ही उसी में विभिन्न शास्त्रों एवं श्रुतियों का समन्वय होता है, इसलिए यह अध्याय "समन्वय" के नाम से कहा गया है। द्वितीय अध्याय का नाम 'अविरोधाध्याय' है, इसके सूत्रों की संख्या १५७ है और अधिकरणों की संख्या ४७ है। यहाँ उन स्मृति और तर्कों का विश्लेषण किया गया है, जो जगत्कारण के विषय में अविरोध की सिद्धि करते हैं। इस अध्याय की मूल दृष्टि यही है इसीलिए यह 'अविरोधाध्याय' के नाम से प्रसिद्ध है। तीसरे अध्याय का नाम 'साधनाध्याय' है,

इसमें १८६ सूत्र और ६६ अधिकरण हैं। इसके प्रतिपाद्य विषय वैराग्य आदि हैं, जो मोक्ष के साधन के रूप में कहे गए हैं। चतुर्थ अध्याय 'फलाध्याय' है, इसके सूत्रों की संख्या ७७ और अधिकरणों की संख्या ३४ है। इस अध्याय में मोक्ष आदि का वर्णन है, जो ग्रंथ का फल है। इसलिए यह 'फलाध्याय' कहलाता है। नितांत ही ग्रंथ का विभाजन तर्कपूर्ण वैज्ञानिक एवं महनीय है। यही कारण है कि आद्य शंकराचार्य ने इसका भाष्य प्रथमतः लिखा। इस भाष्य को परिपुष्ट करने के लिए एंक टीका आवश्यक थी। वाचस्पति मिश्र ने इस कमी को दूर किया और 'भामती' नामक टीका लिखी। इस टीका ने शंकर भाष्य का प्रबल समर्थन किया, जो अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अग्रणी है। वाचस्पति मिश्र के नाम की प्रसिद्धि के अन्य कारणों में भामती ग्रंथ सबसे प्रधान है।

---

१. उपनिषादति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयतीति उपनिषत्।

२. **भारतीय दर्शनशास्त्र** – न्यायवैशेषिक–लेखक–धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री पृ. ४

३. *Indian Literature* - Vol. 1 p.266-67 Winternitz

४. **भारतीय दर्शन** – उमेश मिश्र पृ. ३५३,

५. **वेदान्तसार** – सदानंद, पृ. २

2

जीवन वृत्तान्त

संस्कृत वाङ्मय में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि विद्वानों ने अपने विषय में गोपनीयता बरती है। कृति के प्रारंभ या अन्त में लेखक अपना जीवनवृत्त देकर सबसे बड़ा उपकार इतिहास का करता है, जो निश्चित जीवनी दे सके। अन्यथा कृति का विश्लेषण कहानी का संग्रह, किंवदन्तियों का एकत्रीकरण ही एकमात्र मार्ग अवशिष्ट रहता है। संस्कृत साहित्य में वाचस्पति मिश्र नाम भी इसी तरह की परिस्थिति में अटका हुआ है। दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, चिकित्साशास्त्र आदि के रचयिता अनेक वाचस्पति हुए, एसी ऐतिहासिकों की धारणा है। उनमें भी मिश्रोपाह्व वाचस्पति आठ हुए जिनमें दो वाचस्पति मिश्र दार्शनिक रूप में ज्ञात हैं और एक स्मृतिकार के रूप में। अन्य पाँच का नाम से उल्लेख मात्र मिलता है।

प्रस्तुत विषयक वाचस्पति मिश्र मिथिला के निवासी हैं। इनके काल के विषय में यद्यपि विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है, फिर भी अधिकांश विद्वानों ने इनका समय नवम् शताब्दी के पूर्वार्ध में निर्धारित किया है। मिथिला की दार्शनिक परम्परा में मिश्र उपाधिधारियों की एक सारणि—सी है जो मैथिल है। मण्डनमिश्र, मुरारीमिश्र, शंकरमिश्र, पक्षधरमिश्र, पार्थसारथि मिश्र, सुचरित मिश्र आदि मिश्र-उपाधि से विभूषित जितने भी आचार्य हैं, सबके सब मैथिल हैं। अतएव वाचस्पति मिश्र भी मैथिल ही हैं – ऐसा निश्चित होता है। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के इस संदर्भ में – **श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणलक्षणागमविहितम् अर्थमाचरतां तन्निषद्धं च परिहरतां दाक्षिणात्यानाम्** की उक्ति से भी श्री मिश्र के मैथिल होने की पुष्टि होती है।[1]

जन्म स्थान

आचार्य वाचस्पति मिश्र का जन्म स्थान निर्विवाद रूप से मिथिला ही सिद्ध होता है। वर्तमान मधुबनी जिला के अंतर्गत अन्हराठाढ़ी इनका जन्म ग्राम है। कुछ लोगों ने इनका जन्मस्थान 'भंडारसम' बतलाया है। महामहोपाध्याय पं. परमेश्वर झा ने

मिथिलातत्त्वविमर्श में इनके ग्राम का नाम 'भामा' बताया है। इसका आधार इनकी पत्नी का नाम भामती होना है।[2] कवीश्वर चंदा झा ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है। परन्तु महामहोपाध्याय उमेश मिश्र डा. गंगानाथ झा आदि प्रमुख विद्वानों ने वाचस्पति मिश्र का जन्म स्थान अन्हराठाढ़ी ही माना है। आद्यशंकर के परवर्ती शंकराचार्य वेदान्त **ब्रह्मसूत्र** के अपने भाष्य पर टीका लिखाने के लिए यहीं आये थे। सौभाग्यवश शंकर को वाचस्पति अपने ग्राम में मिल गये। वह ग्राम उस समय नृग नाम से प्रसिद्ध अन्ध राजा की राजधानी थी। राजा का यह नाम उनके अन्धा होने के कारण था। उनकी आँखें नहीं थीं। सामान्य रूप से अंधे की तरह वे भी मनुष्यों की सहायता से चलते थे। विशेष रूप में उनकी सवारी नरयान (पालकी, जिसमें मनुष्य लगकर ढोते हैं) थी। इसीलिए 'नृणा गच्छतीति नृग' यह उनका अन्वर्थक नाम था, किन्तु कटु और अव्यावहारिक होने के कारण सत्य होने पर भी उन्हें अन्ध नहीं कहकर नृग ही कहा जाता था। जिस तरह आज भी इसके लिए प्रज्ञाचक्षु आदि शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं। अंध राजा इसी नृग नाम से प्रसिद्ध हो गये। उनकी राजधानी 'अंधराजधानी' से प्रख्यात थी। बाद में यही स्थान अन्हराठाढ़ी नाम से प्रचलित हुआ 'अन्हरा' शब्द के अश्लीलजनक होने से लोगों ने इसे ठाढ़ी भी कहना प्रारंभ किया। आज भी इसे ठाढ़ी नाम से ही अधिक सम्बोधित किया जाता है।

क्षेत्रीय भाषा में 'ठाढ़ी' शब्द 'बाड़ी' के पर्यायवाची रूप में व्यवहृत किया जाता है। इसका प्रयोग तब विशेषतः होता है, जब किसी स्थान को निर्ज़न और गहन प्रदेश के रूप में या उसके समीप में बताना होता है। अन्हराठाढ़ी को ठाढ़ी कहना भी अकारण नहीं होगा। जनश्रुति के अनुसार **शांकरभाष्य** पर टीका लिखने की अनिच्छा से टालने के लिए वाचस्पति मिश्र ने घर छोड़ दिया और पत्नी को बताकर समीपस्थ 'रक्षावाटी' नामक प्रसिद्ध वन में चले गये। तत्कालीन यह स्थान गहन वृक्षादिकों से परिपूर्ण था। शरणार्थी राजा-महाराजा उपद्रव और अत्याचार के भय से पराजित होने पर यहीं आकर छिपते थे। लगभग १०० वर्ष पूर्व तक यहाँ उपवन था, ऐसा वहाँ के वृद्ध कहते हैं। आज उस स्थान पर 'रखवारी' नामक ग्राम बसा है। इससे भी ठाढ़ी वाचस्पति का गाँव सिद्ध होता है। सौंदर्य और मुखसुख के लिए भी लोगों ने अन्हराठाढ़ी को ठाढ़ी कहना शुरू कर दिया होगा – ऐसा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से प्रतीत होता है। एकान्त और निर्जन क्षेत्र के पास स्थित रहने के कारण ही खाड़ी से तुलित करने के लिए इसे ठाढ़ी कहा जाना स्वाभाविक लगता है।·इसके समीप में ही एक जीर्ण नदी आज भी है, जिसके किनारे पर दार्शनिक शिरोमणि अध्ययन और चिन्तन में जुटे रहते थे – ऐसी ग्रामीण परम्परा अभी भी प्रचलित है।

दर्शन का प्रगाढ़ चिन्तन और मनन करने के बाद इन्होंने कुछ दर्शनग्रंथों की रचना की और उस समय राज करने वाले श्रीमान नृग महाराज के यहाँ उपस्थित

हुए। **भामती** में उन्होंने राजा नृग का उल्लेख भी किया है और स्वीकार किया है कि पण्डित प्रायः राजाश्रित होते हैं – **न चाद्यापि न दृश्यन्ते लीलामात्राविनिर्मितानि महाप्रसाद-प्रमदवनानि श्रीमन्नृगनरेन्द्राणाम् अन्येषां मनसापि दुष्कराणि नरेश्वराणाम्।**[3] तात्पर्यटीका में भी नृग के मिथिला में राजा होने का वर्णन मिलता है। वाचस्पति मिश्र ने नृग को देखने के लिए उत्कण्ठित नगर-नारियों का बड़ा ही साहित्यिक चित्रण किया है। वहीं उन्होंने यह भी कहा है कि विद्वानों का राजा के आश्रित होना परम्परागत है। उदाहरणार्थ– **यदा ही नगरयोषितः कुतूहलात् प्रणिहितमनसो विकसितनिः स्पन्दनयनोत्पलाः सौधमालागवाक्षयोः अवनियतित-सबलवाह्यम् अतिचिर प्रोषितपरावृत्तं गोपुरेण निर्विशमानम् आलोकयन्तीति मिश्राणां राजाश्रितत्वे प्रमाणान्तरमिति।**[4]

इन उदाहरणों से राजा नृग कां मिथिला में राजा होना निःसंदिग्ध होता है। साथ ही उनकी राजधानी अंध सिद्ध होती है, जिसका अवान्तरकालीन नाम अन्हराठाढ़ी है। पुरातत्त्व विभाग के निष्णात विद्वान् अन्हराठाढ़ी के भग्नावशेषों का परीक्षण करके यह संभावना अभिव्यक्त करते हैं कि राजा नृग की राजधानी नेपाल थी। **सांख्यतत्त्वकौमुदी** की भूमिका में डा. गंगानाथ झा ने कहा है कि १०२६ शक कालीन मिथिला के राजा नान्यदेव के पूर्व के नरपति किराताधिपति की राजधानी नेपाल प्रान्त थी, ऐसी उपलब्ध वस्तुओं की रूपरेखा और बनावट से प्रतीत होता है। किरातों का नरवाहन होना भी प्रसिद्ध ही है। इन नरवाहनों की सहायता से भ्रमणशील राजा नृग ही ठहरते है परन्तु संस्कृत साहित्य में नेपाल का अंग से पृथक विभाजन दण्डी और बाण तक कहीं स्पष्ट नहीं मिलता है। साथ ही आधुनिक मधुबनी और नेपाल एक-दूसरे से इतना नज़दीक हैं कि भग्नावशेषों की साम्यता परस्पर अस्वाभाविक नहीं है। अतएव अन्हराठाढ़ी को नेपाल में मानना तर्कपूर्ण नहीं जँचता। फलस्वरूप वाचस्पति मिश्र का मिथिला निवासी होना निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित होता है।

पं. अम्बिकादत्त व्यास ने वाचस्पति मिश्र का जन्मस्थान मिथला ही बतलाया है। 'सामवत' नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार और नटी के सवांद से यह तथ्य हमारे सामने आता है। सूत्रधार कहता है –

सूत्रधार – सेयं मिथिला–

वाचस्पतिना तुल्यो वाचस्पतिपण्डितो यत्र।

जातः शास्त्रपयोधौ निष्णातो धीरधौरेयः।।

इन प्रमाणों ने यह निश्चित कर दिया कि वाचस्पति मिश्र का जन्मस्थान मिथिला है। 'न्यायसूत्रोद्धार' में – **श्रीवाचस्पति मिश्रेण मिथिलेश्वरसूरिणा** लिखा हुआ है। इस लेख से भी सिद्ध है कि इनका जन्मस्थान मिथिला ही है।

जनश्रुति और वाचस्पति मिश्र की जीवनी

जीवनवृत्त का परिदर्शक इतिहास होता है, जो पूर्णतः यथार्थ और निश्चित होता है। इसमें वर्णित जीवन की स्थिति और विकास की सीमाओं में कोई सन्देह नहीं होता है। परन्तु यह भूत की घटनाओं का वर्तमान प्रस्तोता तथा बिखरे हुए वर्णों का संग्रहकर्ता है। वेदों में जो देवासुर संग्राम एवं संवादपरक वर्णन बिखरे हुए हैं, वे इतिहास हैं। पुराण भी एक प्रकार से इतिहास ही है, जो क्षेत्र और सीमा की दृष्टि से इतिहास की अपेक्षा व्यापक है। जगत् की प्रथमावस्था से लेकर सृष्टिक्रिया का विकास उपस्थित करने वाले अंश पुराण हैं – **जगतः प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्** यह लक्षण **ऐतरेय** की भूमिका में है। जनश्रुतियाँ भी इतिहास और पुराण की तरह ही महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इन दोनों की तुलना में इनमें निश्चितता नहीं रहती है। इसलिए जनश्रुति में संभावना का विशेष स्थान है। इसका यह अर्थ नहीं कि जनश्रुति निश्चित ज्ञान का प्रतिपादक नहीं होने से अप्रमाण है, अपितु वेदान्त दर्शन में तो इसे ही संभव प्रमाण माना गया है जिसके द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है कि इस वटवृक्ष के ऊपर यक्षिणी का निवास है, इस ज्ञान की उत्पत्ति अन्य प्रमाणों से संभाव्य नहीं है, इसलिए इसकी प्रमाणता में संदेह करना अविचरित रमणीय है। अतएव कहना नहीं होगा कि जनश्रुति प्रामाणिक ज्ञान को प्रामाणिक ढंग से प्रतिपादित करने वाला स्रोत्र नहीं है।

जनश्रुति का अर्थ दन्तकथा है, जिसका स्वरूप लोगों के द्वारा कहा जाना और सुना जाना है। श्रुति और व्यक्ति के परस्पर संबद्ध होने से इस सारणि में कभी व्यवधान नहीं होता और इसलिए बीच में अवकाश नहीं रहने के कारण इसकी सत्यता में भी असत्य अंशों का या कल्पित अंशों का समावेश नहीं होता। यदा-कदा ऐसा भी होता है कि सामानान्तर जनश्रुतियाँ चल पड़ती हैं। इसके चलते कहीं-कहीं दोनों के प्रवाह में थोड़ा अंतर आ जाता है और दोनों स्वतंत्र मोड़ लेकर बढ़ती रहती है। इसका कारण व्यक्तित्व की कहानी की व्यापकता है। अतिविस्तृत और प्रसिद्ध चरित्र से जनश्रुतियों का फैलाव होने लगता है। परिणामस्वरूप वृद्धों की उक्तियों से नये-नये अर्थों का अनुभव करके जोड़ा जाना प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुतः जनश्रुति का क्षेत्र जब सीमित होता है तो उसमें गल्पों के जुटने की संभावना नहीं रहती। इसका प्रधान कारण यह है कि व्यक्ति का चित्रण अत्यन्त समीप रहने वाले लोग ही अपनी कथाओं के माध्यम से करते हैं। धीरे-धीरे यह कथा प्रचार से अपेक्षाकृत विस्तृत स्थान प्राप्त करती है और कल्पित अनुभव इसमें जुटने लगते हैं। इससे कहीं-कहीं अस्वाभाविकता तो आ ही जाती है तथ्य पर भी हाँ-ना का संदेह शुरू हो जाता है। जैसे उदयन तथा वासवदत्ता की जीवनी और कहानी में विभिन्न जनश्रुतियों के चलते

अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों में असंदिग्धता का अभाव। इसका एक लाभ यह भी होता है कि नये-नये चित्र सामने तो उभरते ही हैं। अनेक विचारों के प्रादुर्भाव से तुलनात्मक विश्लेषण के माध्यम से यथार्थता का स्पष्टीकरण होता है।

वाचस्पति के माता-पिता और गुरु

संयोगवश वाचस्पति मिश्र की जीवनी के लिए भी एकमात्र आधार जनश्रुतियाँ हैं। इन्हीं को गर्भ में रखकर अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर हम वाचस्पति मिश्र के जीवन और काल के विषय में कुछ अन्वेषण कर पाते हैं। उनके तथ्यों के आधार पर इनका जन्मस्थान मिथिला सिद्ध होता है, परन्तु इनके माता–पिता का नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं है, इसका कारण संतान का अभाव है, जिसके चलते वंशवृद्धि के बिना कुछ पता नहीं चल सकता। विद्याध्ययन इन्होंने त्रिलोचन से किया, ऐसा उल्लेख मिलता है। प्रत्यक्ष लक्षण के विश्लेषण के क्रम में व्यवसाय पदार्थ की व्याख्या करते समय **न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका** में उन्होंने स्वयं कहा है:

त्रिलोचनगुरुनीतमार्गानुगमनोन्मुखैः।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम्।।[५]

त्रिलोचन दर्शनशास्त्र में प्रतिभासम्पन्न आचार्य के रूप में स्वीकृत किए जाते हैं। प्रसिद्ध विद्वान हेमचंद्र ने **प्रमाण मीमांसा** में त्रिलोचन का नामोल्लेख किया है। वहीं यह भी प्रतिपादित किया गया है कि त्रिलोचन वाचस्पति मिश्र के गुरु थे।[६] पुनश्च बौद्ध विद्वान आचार्य रत्नकीर्ति ने अपने ग्रंथ **अपोहसिद्धान्त** में त्रिलोचन के सिद्धान्त को उद्धृत करते हुए खंडित किया है। इससे त्रिलोचन की बहुमुखी प्रतिभा का ज्ञान होता है। साथ ही यह भी भ्रम दूर हो जाता है कि वाचस्पति मिश्र के गुरु होने के की योग्यता का इनमें अभाव होगा। इन्हीं से वाचस्पति मिश्र ने मीमांसा दर्शन के अध्ययन का अवसर प्राप्त किया।

कुछेक लोगों की धारणा है कि वाचस्पति के मीमांसा–गुरु जयन्त भट्ट नामक विद्वान थे। मण्डन मिश्र द्वारा रचित **विधिविवेक** की व्याख्या के प्रारम्भ में मंगलाचरण में वाचस्पति मिश्र ने अपने गुरु को प्रणाम करते हुए कहा है – **अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमंजरीम् रुचिरां। प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे**। दर्शनशास्त्र के इतिहास में **न्याय मंजरी** के रचयिता जयन्त भट्ट हैं। परन्तु यहाँ संदेह होता है कि वाचस्पति मिश्र द्वारा पठित न्यायमंजरी है या किसी अन्य द्वारा रचित, इसमें कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होता है। मीमांसा-दर्शन में कहा गया न्याय भी न्याय शब्द का एक प्रसिद्ध अर्थ है। उसी न्याय की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र के गुरु ने **न्याय** नामक पुस्तक लिखी होगी, इसके विषय में कोई भी प्रमाण नहीं मिलता है। इसलिए जयन्त भट्ट त्रिलोचन से भिन्न हैं यह पर्यवसित होता है। इस प्रसंग में यह भी शंका

निराधार है कि जयन्त भट्ट और त्रिलोचन एक ही व्यक्ति हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिलोचन और जयन्त भट्ट को भिन्न-भिन्न सिद्ध किया है– **अत्र च पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन संख्यावद्भिः त्रिलोचन गुरुवाचस्पतिप्रमुखैरयमर्थः समर्थितो यथाः**।[७]

किसी भी प्रमाण से असिद्ध हेतु कोई सिद्धान्त नहीं स्थिर कर सकता है– इस प्रसिद्ध न्याय के आधार पर भी "वाचस्पति मिश्र के गुरु जयन्त भट्ट थे।" यह सिद्ध नहीं हो सकता है। वाचस्पति मिश्र ने मंगलाचरण के प्रसंग में जिस न्याय मंजरी ग्रंथ का स्मरण किया है, उससे कौन विशेष ग्रंथ उनका अभीष्ट है : अथवा गुरु को "विद्यातरु" कहने का क्या अभिप्राय है और उससे उद्भूत मंजरी किस तरह की होगी। आदि प्रश्न अन्वेषण की लालसा में पड़े हुए हैं। महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश ने कहा है कि मगध देश में मीमांसा के गुरु के अभाव में वाचस्पति मिश्र ने कश्मीर में जाकर इसका अध्ययन किया, परन्तु यह संदेह पुनः जाग उठता है कि वेदान्त दर्शन का अध्ययन उन्होंनें कहाँ किया; जिस गुरु से उन्होंने पूर्व मीमांसा पढ़ी उसी से उत्तर मीमांसा क्यों नहीं पढ़ी? प्रतीत होता है कि **न्याय मंजरी** की रचना वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका के समय तक नहीं हुई हो या प्रचार के अभाव में उन्हें उपलब्ध नहीं हुई हो। अन्यथा गुरु के मतों की चर्चा अवश्य ही **तात्पर्य** में होती। दूसरी तरफ गौतम के प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या में उन्होंने अपने गुरु त्रिलोचन के सिद्धान्तों की व्याख्या की है – **अस्माभिस्तु लक्षणसूत्राणि एवं व्याख्यास्यन्ते**।[८] बाद में न्याय सूत्रों की लघुवृत्ति **न्यायकलिका** के द्वारा इन्होंने उपस्थित की। अतएव जयन्त भट्ट वाचस्पति मिश्र के किसी तरह समकालीन ही ठहर सकते हैं और दोनों भिन्न हैं। जयन्त भट्ट को गुरु मानना संदेह की कल्पनामात्र है।

वाचस्पति मिश्र के दार्शनिक सिद्धान्तों की परिणति **भामती** है। इस ग्रंथ के मंगलाचरण के प्रसंग में इन्होंने मार्तण्डतिलक स्वामी की वंदना की है। इस नाम ने यह शंका उपस्थित कर दी है कि इनके गुरु का नाम त्रिलोचन नहीं होकर मार्तण्डतिलक स्वामी है। **भामती** में वाचस्पति मिश्र ने बहुत श्रद्धा से इनका स्मरण किया है–

षड्भिरंगैरुपेताय विविधैरव्यैरपि।
शाश्वताय नमस्कुर्मो वेदाय च भवाय च ।।३।।

मार्तदण्डतिलकस्वामिमहागणपतीन्वयम्।
विश्ववन्द्यान्नमस्यामः सर्वसिद्धिविधायिनः ।।४।।

परन्तु **भामती** की टीका **वेदान्त कल्पतरु** मे मार्तण्ड और तिलकस्वामी को देवशेष की तरह ग्रहित किया है जिनके नामोल्लेख से सभी अन्याय नष्ट हो जाते हैं और अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है–

आदित्यस्य सदा पूजां तिलकस्वामिनस्था।
महागणपतेश्चैव कुर्वन् सिद्धिमवाप्नुयात्।[10]

वैवाहिक वृत्त और किंवदन्तियाँ

नवीं शताब्दी दर्शन एवं काव्यशास्त्र दोनों के विकास और चिंतन में समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत साहित्य राजाओं की काव्यप्रियता से पूर्णतः समृद्ध हो रहा था। कवि उपयुक्त राजाश्रय पाकर सुखमय जीवन व्यतीत करते हुए शास्त्र रचना में संलग्न थे और बदले में राजाओं को नीति, धर्म और संस्कार का उपदेश भी देते थे। विशेषतः हिन्दू संस्कारों ने समाज में अपरिहार्य स्थान प्राप्त कर लिया था। राजघराने और संस्कृतज्ञों में तो इसका निर्वाह आवश्यक-सा माना जाने लगा था। दण्डी-बाण आदि ने राजाओं के यहाँ सीमन्तोन्नयन, पुंसवन आदि उत्सव मनवाये जिसमें अन्य देश के भी महाराजे उपस्थित हुए। यहाँ तक कि राजा भी चिरकाल तक प्रवास करते थे। स्वयं वाचस्पति मिश्र ने राजाश्रय में रहते हुए नृग महीपति के प्रवास से परावर्त्तन का वर्णन किया है।[11] संस्कारों के प्रति इतनी श्रद्धा और दृढ़ता बरतने वाला विद्वान स्वयं इसकी परिधि में रहकर ही अपना कार्य सम्पादित करता होगा। अन्हराठाढ़ी के लोगों में भी यही कहानी चर्चित है कि विवाह के बाद इन्होंने दर्शनों की टीका शुरू की। स्पष्ट है, अध्ययन की पूर्णता के पश्चात् इनका पाणिग्रहण संस्कार हुआ होगा। ग्रंथ रचना के क्रम में न्याय सूची निबंध इनकी पहली कृति प्रतीत होती है। जिसका समय विक्रम संवत् ८९८ **वस्वंकवसुवत्सरे** अर्थात् ८४१ ई. है। सभी दर्शन की गुत्थियों के अध्ययन में इन्हें २५-२६ वर्ष अवश्य लगे होंगे। तदनन्तर इनका विवाहादि कार्य सम्पन्न हुआ होगा। ऐसी स्थिति में इनका जन्म लगभग ८२१ ई. ठहरता है। अध्ययन समाप्ति का काल ८३८ ई. के आस पास होगा। विवाह की अवधि ८३९-८४० ई. होगी। इसके तुरन्त बाद ८४१ ई. में उन्होंने न्याय सूची निबंध की रचना की। निश्चित ही इनका जन्म नवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश ८२५ ई. के पूर्व हुआ होगा। शेष कार्य द्वितीय चतुर्थांश में हुए।

अनुभव और सम्भावनाओं के आधार पर वाचस्पति मिश्र का विवाह लगभग २८ वर्ष की अवस्था में स्थिर होता है। विवाह से संबधित किंवदन्तियाँ प्रायः समान हैं, परन्तु थोड़ा-थोड़ा सबमें अन्तर मिलता है। ठाढ़ी तथा आस पास के ग्रामीणों से जो दन्त कथाएँ सुनी जाती हैं, उन्हें अविकल लिखा जा रहा है। कुछ लोगों के अनुसार, परिणय होने के बाद वाचस्पति मिश्र दर्शन की टीका में संलग्न हो गए। शास्त्रीय लेखन में इनकी प्रवृत्ति इतनी केन्द्रीभूत हो गई कि इन्होंने पत्नी तक को भुला दिया। कहा जाता है कि पत्नी प्रतिदिन दीप जला जाती थी और वाचस्पति रात्रि में उसी दीप के प्रकाश तले बैठकर टीका करते थे। पाँच दर्शनों की टीका के बाद इन्होंने विश्राम लेना चाहा, किन्तु इन्हें **ब्रह्मसूत्र** पर भी टीका करनी पड़ी। इनकी कहानी का

उल्लेख आगे किया गया है। रोज़ की तरह इनकी अर्द्धांगिनी अभी दीप जला कर जा ही रही थी कि वाचस्पति पहुँच गये। अपने अध्ययन स्थल पर उपस्थित कुलवती महिला को देख कर इन्हें आश्चर्य हुआ। इन्होंने उससे पूछा—देवी तुम कौन हो अपने पैर के अंगूठे से धरती कुरेदती हुई उस स्त्री ने कहा – स्वामिन्। आपकी परिणीता पत्नी मै भामती हूँ। स्त्री के परिचय पर वाचस्पति को अपनी भूल मालूम पड़ी। स्त्री के इस तरह त्याग पर इन्हें बहुत विस्मय हुआ। वाचस्पती ने कृतज्ञतापूर्वक उससे क्षमा माँगी और कहा —मैंने बहुत बड़ी भूल की है। तुम्हें कोई सन्तान नहीं। संतति के अभाव में नाममात्र कुछ दिनों तक रहता है और कालान्तर में मिट जाता है। नाम का लुप्त हो जाना ही पूर्णतः मृत्यु है। इसलिए अमरता की प्राप्ति के लिए इस टीका ग्रंथ का नाम तुम्हारे नाम मैं रख देता हूँ ताकि तुम्हारा नाम युग-युगांतर के लिए अमिट रहे और उसी टीका का नाम उन्होंने **भामती** रखा। इससे सिद्ध होता है कि इनकी पत्नी का नाम भामती था और उसी नाम के आधार पर उन्होंने **भामती** टीका नाम रखा।

दूसरी परम्परागत कथा इस रूप में प्रचलित है कि वेदान्त ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिख लेने के बाद शंकराचार्य को यह चिंता लगी थी कि इसकी टीका लिखा जाना परमावश्यक है। सामने प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि भाष्यकार से अधिकतर या समकक्ष विद्वान टीकाकार को होना चाहिए। तभी यह संभव था कि लेखक की समस्त भावनाएँ आद्यन्त मौलिक रूप में कुछ विस्तार लेते हुए उपस्थित हों। आचार्य शंकर ने दक्षिण भारत में दृष्टि दौड़ाई। कोई भी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व सामने नहीं आ सका जिससे आशा सफल हो सके। उसी समय उत्तर भारत में एक दार्शनिक की दर्शन-क्षेत्र में ध्वजा गड़ी हुई थी। यह आचार्य वाचस्पति मिश्र थे। शंकराचार्य के कानों में यह सूचना पहुँची। संबद्धता पहले से इन दानों की नहीं थी। संबंध यद्यपि स्वतंत्र होता है परन्तु दो को जुटाने का निःसंदिग्ध माध्यम होता है। शंकर के मन में शंका ने घर किया —भाष्य की टीका करना वाचस्पति स्वीकार करेंगे या नहीं।

अमूर्त अभिलाषा ने मनोवृत्ति को व्याकुल बना दिया। मनोभावना यथोचित मोड़ के अभाव में शंकर को किंकर्तव्यविमूढ़-सा करने लगी। साधना और अभ्यास को सजग करना पड़ा। तत्काल चिति शक्ति ने निर्णय लिया —वहाँ पहुँचना चाहिए। अणिमा की सिद्धि ने समय के अन्तराल को दूर किया। शंकर वाचस्पति की मिथिला में पधारे। गाँव के पास पहुँचकर अपने अणु रूप को उन्होंने त्याग दिया और स्वाभाविक स्वरूप में आ गये। हाथ में दण्ड, कमण्डलु, भिक्षाकपाल और कण्ठ में रुद्राक्ष की माला। कंधे पर गुद्दड़ का गट्ठर लटक रहा था सूर्यास्त कुछ देर में होने वाला था। इसी सायंकाल की बेला में आपके घर पहुँचे और उनके नाम की आवाज़ लगाई। सन्यासी का स्वर गंवाई वातावरण में प्रतिध्वनित हो गया। वाचस्पति मिश्र की पत्नी

गृहकार्य से निश्चिन्त होकर विश्राम कर रही थी। द्वार पर किसी की आहट सुनकर बाहर आई। सामने एक दिव्य पुरुष की आकृति दिखाई पड़ी। दृष्टि उसके ऊपर चिपक गई। भामती ने अनायास सोचना शरू किया –यह नई अवस्था और सौन्दर्य तथा सन्यासी का बीहड़ जीवन। किस माता-पिता को दुर्भाग्य ने चपेट लिया। तत्काल गृहपत्नी को अपना कर्त्तव्य स्मरण हो गया। भिक्षान्न लेकर वह ज्यों ही आगे बढ़ी, सन्यासी वेशधारी स्वामी शंकर ने कहा – भद्रे ! मुझे बुभुक्षा जलाए जा रही है, कुछ भोजन दो। भामती ने आतिथ्य में पाद्यादि की व्यवस्था के उपरान्त भोजन की थाली बढ़ा दी। किन्तु यह क्या स्वामी जी उदास बैठे थे। उसने पूछा –सन्यासिन, भोजन क्यों नहीं करते, उन्होंने आर्तभाव से देखते हुए उत्तर दिया–बहन, मै जिस आशा और लक्ष्य को लेकर आया हूँ, उसे पूरा करो तभी मै भोजन करूँगा। इसी दृष्टि से में भारत के दक्षिणी कोने से कष्टसाध्य परिश्रम के अनन्तर पहुँचा हूँ। भामती की जिज्ञासा प्रबल हो गई और उसने तत्काल पूछा–क्या है सन्यासी ने गुदड़ी का बंधन खोलकर ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य सामने रखते हुए कहा–आपके पति इस ग्रंथ के ऊपर टीका लिखने का वचन जब तक नहीं देंगे, मै भोजन नहीं करूँगा। बद्धाञ्जली भामती ने पूछा--महाराज आप अपना परिचय बतावें। सन्यासी ने उत्तर दिया–मिश्र जी पुस्तक देखने के बाद मेरा परिचय आपको बता देंगे। भामती ने पति की तरफ से टीका लिखने का भिक्षा-वचन दे दिया। फिर भी सन्यासी ज्यों का त्यों बैठा रहा। भामती के पुनः आग्रह करने पर भी जब उन्होंने एक न सुनी तो वह वाचस्पति मिश्र के पास पहुँची। मिश्र जी हाथ में एक पुस्तक लेकर विश्राम कर रहे थे। भामती ने सारी स्थितियां यथावत बता दी। मिश्र जी ने कहा–उन्हें भोजन करने के लिए प्रार्थना करो– मैं स्वयं उनके दर्शन के लिए आ रहा हूँ। भामती ने पुनः पति से निवेदन किया–बार-बार कहने पर भी भोजन नहीं करते। मिश्र जी उठ गये और अन्न नहीं ग्रहण करने का कारण पूछा। भामती ने कहा – जब तक आपका वचन नहीं मिलेगा वे भोजन नहीं करेंगे। वाचस्पति मिश्र ने पत्नी को आदेश दिया – उन्हें वचन दे दो और वे भोजन करें। मैं उनकी सेवा में उपस्थित हो रहा हूँ। भोजनोपरान्त उत्तरी-दक्षिणी बिन्दु मिले। परस्परालाप हुआ। वाचस्पति के मन में वेदान्त रसिकता उमड़ी। वचनबद्धता उसमें एक बहाना हुई। शंकर प्रसन्न होकर अपने आश्रम को परावर्तित हो गये। इधर वाचस्पति भाष्य की गंभीर टीका लिखने में संलग्न थे।

विषय की प्रगाढ़ता और तल्लीनता ने तमाम चित्त वृत्तियों को दर्शन में समेट लिया। सांसारिक सुखों को भूलकर वाचस्पति अपनी झोंपड़ी में टीका लिखने में अनुरक्त थे। एक रात की घटना है कि सामने जलते हुए दीपक की बाती में कालिमा बढ़ती जा रही थी। परिणामस्वरूप प्रकाश क्षीण हो रहा था। विषय इतना दुरूह और रोचक था कि मिश्र जी का ध्यान क्षीण प्रकाश के कारण की तरफ़ नहीं था। ज्यों-ज्यों

दीपक की किरणें धुँधली होती जा रही थीं, वाचस्पति की गरदन कागज पर क्रमशः सटती जा रही थी। बगल में भामती खड़ी सब देख रही थी। जब वाचस्पति की गरदन कागज से सटने की समस्या में आ गई तो भामती ने एक तिनके से दीपक के ऊपर जमी हुई मैल हटा दी। अचानक अंजोर बढ़ गया। वाचस्पति ने देखा – सामने एक वृद्धा स्त्री आँखों में आँसू भरे खड़ी है। उन्होंने अश्रुपूर्ण लोचना स्त्री से पूछा – तुम यहाँ खड़ी होकर क्यों रो रही हो? उसने जवाब दिया – मैं प्रत्येक रात्रि में यहाँ उपस्थित रहती हूँ। आपका ध्यान कभी नहीं टूटता। परन्तु रोदन का कारण यह नहीं है। मुझे रुलाई इस लिए आ रही है कि आपको कोई संतान नहीं है। वाचस्पति को तब अपने विवाह का स्मरण हो आया। उन्होंने कहा – यह सत्य है कि संतान से वंश का नाम चलता है किन्तु यह तो संसार के लिए है और क्षण स्थायी है। तुम्हारे नाम से ही इस भाष्य की टीका कर देता हूँ जो इस संसार के मिट जाने पर भी सदा वर्तमान रहेगा। उसी उद्देश्य से भामती के नाम पर टीका का नाम उन्होंने भामती रखा।

इसी क्रम में एक दन्तकथा और प्रचलित है जो उपर्युक्त कथाओं से कुछ भिन्न और कुछ मिलती-जुलती है। वह इस प्रकार है – शंकराचार्य ने **ब्रह्मसूत्र** का भाष्य तो कर दिया लेकिन जब तक उस पर वाचस्पति की मुहर नहीं लगेगी उसका प्रचलन असंभव था। दर्शन के क्षेत्र में विद्वानों ने उसी ग्रंथ को प्रामाणिक मानना शुरू किया था जिस पर उत्तरी भारत के मिथिला में वर्तमान वाचस्पति की लेखनी चल चुकी थी। फलस्वरूप वाचस्पति के पास शंकराचार्य को आना पड़ा। आचार्य शंकर से वाचस्पति मिश्र की बातचीत हुई। उन्होंने भाष्य के विषय को देखा और उपयुक्त समझकर टीका लिखने का वचन दे दिया। शंकराचार्य प्रसन्न मन से परावर्तित हो गये। इधर मिश्र जी ग्रंथ लेखन में जुट गये। एक समय की बात है, वाचस्पति आधी रात दीपक के सामने बैठकर टीका में लगे थे। उनकी दृष्टि ग्रंथ पर तन्मय थी। सामान्यतः इतनी ही अवधि तक ये प्रतिदिन कार्य करते थे। आज कुछ विलम्ब हो रहा था। क्योंकि गंभीर विषय का विवेचन आ गया था जिसका प्रकाश नहीं हो रहा था। इसी समय दीप–बत्ती हिल रही थी। विषय गंभीर होता चला जा रहा था। परन्तु वाचस्पति का ध्यान उधर नहीं गया कि दीपक में स्नेह (तेल) का अभाव है। मिश्र जी को कुछ भी दृश्य के विषय में मालूम नहीं हुआ। इस बीच में उनकी पत्नी आई थी और उसी ने स्नेह देकर प्रकाश बढ़ाया था। वाचस्पति को अक्षर दिखाई पड़ने लगे। विषय सुलझ गया। इसके बाद वाचस्पति ने नजर उठाई तो देखा–दीपक के समीप में एक महिला खड़ी जमीन को देख रही है। उन्हों ने पूछा–तुम कौन हो जो अनजाने आकर यह प्रकाश दे गई। मैं उलझन में अटक गया था। तुम ने मुझे मार्ग दिया। तुम्हें जो अभिलाषा हो माँग लो। स्त्री ने कहा– दर्शनपति आपकी धर्मपत्नी हूँ और पतिदर्शन की तृष्णा में प्रतिदिन आती हूँ। मेरी एक ही कामना है कि आप

मुझे जीवन का एक आधार दे दें। वाचस्पति ने संतति के अस्थायित्व को बताते हुए पत्नी के नाम ही टीका का नामकरण 'भामती' कर दिया।

कहीं-कहीं यह भी कहानी प्रचलित है कि विवाह से पूर्व ही इन्होंने **ब्रह्मसूत्र** के शांकरभाष्य की टीका शुरू की थी। ग्रंथ में एकाग्रता और संसार के प्रति उदासीनता देख कर इनके माता-पिता ने इनकी शादी कर दी। फिर भी विद्याध्ययन मात्र में इनकी अनुरक्ति कम नहीं हुई। इन्होंने पत्नी के साथ सांसरिक व्यवहार तक भुला दिया। समय बीतने लगा। एक दिन परिवार की अन्य स्त्रियों ने उनकी धर्मपत्नी को भोजन के अनन्तर उनके अध्ययन कक्ष में भेज दिया। वाचस्पति का ध्यान नहीं टूटा और उन्होंने इस प्रवेशशीला की तरफ देखा तक नहीं। उसने ध्यान निरोध के लिए दीप में प्रज्जवलित बत्ती को धीरे-धीरे खींचना शुरू किया। प्रकाश क्रमशः क्षीण होने लगा और अक्षर नहीं दीख पड़ने के कारण वाचस्पति की गरदन पुस्तक से सटने लगी। उनकी बुद्धि इसी कार्य पर केन्द्रीभूत थी, इसलिए उन्होंने दूसरे विषय पर ध्यान ही नहीं दिया। पत्नी ने अपनी साधना शुरू रखी। कुछ क्षण के बाद दीपक बुझ गया। वाचस्पति ने सिर उठाया। सामने एक वृद्धा स्त्री की छाया खड़ी थी। उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। उन्होंने डाँटना प्रारम्भ किया– तुम कौन हो, कहाँ से आकर तुमने मेरे कार्य में बाधा उपस्थित कर दी है। स्त्री ने हाथ जोड़कर विनीत एवं आर्तभाव से कहा– स्वामिन्, मैं आपकी विवाहिता पत्नी हूँ। कई वर्ष आपकी प्रतीक्षा में बीत चुके हैं। हम लोगों की वृद्धावस्था आ गई। लेकिन मुझे आपके दर्शन नहीं हो सके। मैं सांसारिक उपलब्धि के लिए आपके नज़दीक आई हूँ, क्योंकि संततिहीन जीवन परलोक में सुख नहीं प्राप्त करता है। वाचस्पति की बुद्धि पुनः अध्यात्म की तरफ़ मुड़ी। संगत की क्षणभंगुरता को बताते हुए अपनी पत्नी के नाम की अमरता के लिए टीका का नाम 'भामती' रखा।

भामती, वाचस्पति मिश्र की पत्नी थी, इसकी पुष्टि एक अन्य किंवदन्ती से भी होती है। मिथिलावासियों का कहना है कि दर्शन में प्रसिद्धि प्राप्त करने के बाद देश के कोने-कोने से शिक्षार्थी आने लगे। वाचस्पति मिश्र इनका अध्यापन नदी के किनारे बैठकर शांत और गंभीर वातावरण में करते थे। वहाँ के छात्रों का कहना है कि उस नदी का नाम 'मिसिराईन' था। इसका निर्माण वाचस्पति मिश्र की पत्नी ने कराया था। इसका उद्देश्य भी स्पष्ट है कि सामान्यतः संतति के अभाव में अपने नाम और यश के लिए यह संसारी कार्य किया जाता है। भामती ने यह कार्य **शांकरभाष्य** की 'भामती' लिखने के बाद कराया होगा। इस तरह 'मिसिराईन' वाचस्पति की भामती पत्नी और ठाढ़ी उनका ग्राम है।

किन्तु प्रतीत होता है कि ये दन्तकथाएँ थोड़ा भी औचित्य नहीं रखतीं। राजा के आश्रय में रहने वाला व्यवहार सम्पन्न एक स्वस्थ विद्वान अपने कर्तव्य को प्रमत्त की

तरह विस्मृत नहीं कर सकता। यह भूल इस तरह के सामाजिक व्यवहार का सर्वथा असंभव-सा उदाहरण जान पड़ता है। यह ज्ञात होता है कि अन्हराठाढ़ी और उसके समीपस्थ बूढ़ों में प्रचलित ये जनश्रुतियाँ कुछ गल्प-सी हैं। इनका उद्देश्य संभवतः उनकी दार्शनिकता की प्रौढ़ता को परिपुष्ट करना है।

भामती वाचस्पति की पत्नी नहीं – संदेह और निराकरण

दर्शन में इतनी प्रौढ़ता, वाचस्पति के व्यावहारिक जीवन में अध्यात्म की इतनी उतार और ये दन्तकथाएँ; भामती के उनकी पत्नी होने में संदेह उत्पन्न करते हैं। इनके द्वारा वाचस्पति का जो स्वरूप चित्रित होता है उसमें भामती (पत्नी) का इतना मायने लगाना सहज नहीं लगता है। इसलिए कुछ प्रबुद्ध विचारक ऐसी चर्चा करते हैं कि भामती उनकी पत्नी का नाम नहीं होकर एक स्थान के नाम के आधार पर रखा गया नाम है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह वह स्थान है जहाँ नीरव वातावरण में बैठकर वाचस्पति मिश्र ग्रंथों की रचना करते थे। इस स्थान का नाम 'भामा' बताया जाता है। यहीं उन्होंने 'शांकरभाष्य' की टीका लिखी और उस स्थान की यादगारी में ग्रंथ का नाम 'भामती' रखा। यह जगह जयनगर से जनकपुर जाने वाले रेलमार्ग पर महिनाथपुर स्टेशन के पास है। वहाँ के वृद्ध संस्कृत विद्यालय महिनाथपुर के समीप में भामा नामक एक जीर्ण मठ की चर्चा करते हैं, जिसका निर्माण सत्यभामा नामक एक वृद्धा ने अपने यशः शेष के लिए कराया था। अगर वाचस्पति ने वहीं रहकर भामती टीका लिखी होती तो निश्चित ही जनश्रुतियाँ इसका साक्ष्य करती, परन्तु इस तरह की कहानी वहाँ प्रचलित नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि अंधराजधानी से सिर्फ़ भामती लिखने के लिए आचार्य का वहाँ जाना समीचीन नहीं लगता। इससे स्पष्ट होता है कि भामती नाम स्थान का सूचक नहीं है।

मिथिला में फैली दन्तकथाएँ भामती को पत्नी सिद्ध करती हैं। रुचि और समय अभिव्यक्ति के परिवर्तन में मूल कारण होते हैं। यही कारण है कि वाचस्पति संबंधी कहानियों में कुछ अतिशयता हो गई, जिससे व्यावहारिकता पर भी आघात होने लगा। फलतः एक दार्शनिक की इस सांसारिकता पर संदेह स्वाभाविक हो जाता है, पर वास्तविकता यह है कि ये जनश्रुतियाँ दर्शन के आचार्य के विषय में स्वंय कठोर और परिहास प्रधान हो जाती है, जैसे गहन अँधेरे में काली टोपी खोजना, बन्दूक़ रखने के स्थान पर स्वयं खड़ा होकर अपने सोने के स्थान पर बन्दूक़ को सुला देना आदि प्रसंग दर्शन की अव्यावहारिकता के लिए चर्चित किए जाते हैं। इसी तरह की स्थिति कुछ वाचस्पति के विषय में भी है। इन कथाओं में संलग्न जो व्यवहार से दूर प्रतीत होने वाले अंश हैं, उनका उद्देश्य वाचस्पति की दर्शन में अनन्यमनस्कता को इंगित करना है। तथ्य यही है कि भामती उनकी पत्नी है। **ब्रह्मसूत्र** पर शांकरभाष्य

की टीका लिखने का वही कारण थी, जिसने शंकराचार्य का प्रथम आतिथ्य किया था। इसीलिए उसी के नाम पर वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' ग्रंथ लिखा।

समय

मिथिला में वाचस्पति के जन्म के विषय में विवादाभाव होने पर भी काल विषयक विवाद आज भी निर्णीत नहीं हो सका है। यह समस्या भारतीय विद्वानों के सम्बन्ध में सामान्य-सी है। इसका कारण यह है कि इन मनीषियों ने अपने समय का उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा। इसलिए देश, काल को लेकर इतिहासकार यदि आपस में खींचातानी करते रहे हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। द्वितीयतः ऐसा भी देखा गया है कि यदि किसी आचार्य ने अपनी कृति के अंत में समय विषयक कोई सूचना दी तो वह भी इतनी अस्पष्ट और उलझी हुई कि उसकी प्रामाणिकता में इतिहास के कई पृष्ठ भी पर्याप्त नहीं हो सकते। वाचस्पति मिश्र के विषय में ये दोनों प्रसंग लागू हो रहे हैं। इनकी एक पुस्तक **न्यायसूची निबन्ध** है। इसके अंत में ग्रन्थ के समय का निर्देश करते हुए उन्होंने लिखा है–[१२]

न्यायसूचीनिम्बन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे।।

ज्योतिशास्त्र के **अंकाना बामतो गतिः** सिद्धान्त के अनुसार वसु=८, अंक=९, वसु=८ अर्थात् ८९८ वर्ष में वाचस्पति मिश्र ने इस ग्रंथों का प्रणयन किया। परन्तु वर्ष का द्योतक यह 'वत्सर' शब्द से स्पष्ट नहीं हो पाता है कि वह वर्ष का शकाब्द है या विक्रमाब्द। इस विषय में वाचस्पति ने कोई संकेत नहीं किया हैं। अतएव यह निर्णय पर्याप्त तर्क एवं प्रमाण की अपेक्षा रखता है।

प्रसिद्ध विद्वान् विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, दिनेश भट्टाचार्य तथा महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार 'वत्सर' शब्द शकाब्द का वाचक है। शक वर्ष में ७८ जोड़ने से ईस्वी सन् होता है। इस तरह ८९८ + ७८ = ९७६ ई. में **न्यायसूची-निम्बन्ध** की रचना हुई और वाचस्पति मिश्र का जन्म दशम शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में सिद्ध होता है। किन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। अगर ८९८ वर्ष को शक माना जाए तो वाचस्पति मिश्र उदयनाचार्य के समकालीन सिद्ध होते हैं। **लक्षणावली** में उदयन ने लिखा है –

तर्काम्बररांकप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्।।

इस श्लोक के अनुसार ९०६ शकाब्द में उदयन द्वारा **लक्षणावली** की रचना की गई – यह स्पष्ट होता है। इस तरह वाचरपति और उदयन में ९०६–८९८=८ वर्ष

का महज अन्तर होता है। इस उदयन ने वाचस्पति मिश्र के 'न्यायवार्तिक 'तात्पर्यटीका पर परिशुद्धि' लिखी है। यह निर्विवाद है। एवम्प्रकारेण उदयन और वाचस्पति समकालीन सिद्ध होते हैं, परन्तु उदयन ने स्वयं अपने को वाचस्पति से परवर्ती स्वीकार किया है। 'न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका परिशुद्धि' के आरम्भ में वाचस्पति की विद्वत्ता से घबराकर उदयन ने सरस्वती से प्रार्थना की है –

मातः सरस्वति मुहुमुहुरेव नत्वा बद्धाञ्जलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि।
वाक्चेतसोमर्म तथा भव सावधाना वाचस्पतेर्वचसि न स्खलनो यथैते।।

वाचस्पति का 'तात्पर्यटीका की परिशुद्धि' के अवसर पर माँ सरस्वती सावधान होकर इस तरह वाक्य तथा चित्त का अनुशासन करो कि वाचस्पति के वाक्यों में ये स्खलित न हो जाएँ। उदयनाचार्य की यह प्रार्थना प्रमाणित करती है कि उन्होंने वाचस्पति से साक्षात् उपदेश नहीं प्राप्त किया था इसीलिए वाचस्पति में श्लेष करके उन्हें बृहस्पति तुल्य भी माना है। इससे उदयन के पूर्ववर्ती वाचस्पति है – यह पर्यवसित होता है। उदयनाचार्य की अन्य उक्तियाँ भी इस तथ्य का प्रकाशन करती है कि गुरु आचार्य त्रिलोचन और शिष्य वाचस्पति मिश्र दोनों के स्वर्गवासी होने के अनन्तर इन्होंने मिथिला में न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों का अध्ययन और लेखन किया। अतएव यह सिद्ध होता है कि – **न्यायसूचीनिबन्ध** का रचना काल ८९८ शकाब्द नहीं अपितु विक्रम संवत् है। इस तरह इसका समय ९७६ ई. न होकर ८४१ ई. है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर वाचस्पति मिश्र ने भामती लिखी है। ग्रन्थ के अंत में उन्होंने कतिपय श्लोक लिखे हैं जिनसे लेखक के विषय में कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। उदाहरणस्वरूप –[१३]

नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगोऽकारि मया निबन्ध।। इति

इस श्लोक के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि वाचस्पति राजा नृग के समय में वर्तमान थे। नृग राजा कौन है, इनका समय शकाब्द है या विक्रमाब्द है? यह नाम है या उपाधि; इनका समय क्या है? इत्यादि प्रश्न विवादास्पद रहे हैं। महाभारत और भागवत् में नृग नाम के अनेक राजा-महाराजा हुए हैं। वर्तमान नृग महीपति की उतनी प्राचीनता संभव नहीं है। अर्वाचीन नृग के विषय में 'शाङ्र्गधरपद्धति' में विशिष्ट राजवंश के वर्णन के प्रसंग में नृग नृपति पाषाण यज्ञभूप प्रशस्ति नाम से दो पद्य मिलते हैं –

आविन्ध्यादाहिमाद्रेः विरचितविजयः तीर्थयात्राप्रसंगाः-
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्षान्नृपतिषु विनमत्कँधरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभिः
देवः शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते वीसलः क्षोणिपालः ।।१।।

ब्रूते संप्रति चाउहान तिलकः शाकंभरी भूपतिः
श्रीमान्विग्रहराज एष विजयी संतानजानात्मनः।
अस्मानि करदं व्यधायि हिमवद् विंध्यान्तरालं भवः
शेषस्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः ।।२।।

इस शाकंभरी देश में चौहान क्षत्रियवंश में हम्मीर नामक राजा हुआ। उसी सभा में राघवदेव एक पंडित थे। उनके आत्मज गोपाल, दामोदर, देवदास प्रभृति पंडित हुए। दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर ने नृग नृपति का नाम पाषाण यज्ञभूप करके इस प्रसंग में उद्धृत किया है। हम्मीर राजा १२६५ विक्रम में स्वर्ग सिधार गए। उन्होंने ६० वर्ष तक राज्य किया था। इससे उनका समय विक्रम संवत् १२३५ से १२६५ तक ठहरता है। विक्रम संवत् और शकाब्द में १३५ वर्षों का अन्तर पड़ता है। इस तरह हम्मीर का समय ११०० शकाब्द प्रतिष्ठित होता है। ऐतिहासिकों के अनुसार विक्रमाब्द १२३५ से भी पूर्व दिल्ली नगर के समीप स्थित स्तम्भ पर ऊपर पठित दोनों पद्य थे। स्तम्भ पर १०८५ शकाब्द अंकित किया गया था। उससे स्पष्ट होता है कि ११०० शकाब्द के बाद वाचस्पति मिश्र का समय तय नहीं हो सकता।[१४]

शकाब्द ११८२ के आस-पास बोपदेव नामक एक विद्वान् हुए। इन्होंने **शार्ङ्गधर संहिता** की व्याख्या की है। इससे भी स्पष्ट होता हैं कि नृगनृपति का समय बापदेव के समय से पहले है और इस तरह नृग के आश्रय में जीवन व्यतीत करने वाले वाचस्पति का समय ११०० शकाब्द के अनन्तर नहीं हो सकता।

संस्कृत साहित्य के एक दार्शनिक नाटक **प्रबोध चन्द्रोदय** से वाचस्पति मिश्र के समय के विषय में कुछ प्रकाश मिलता है। इस नाटक के प्रणेता श्रीकृष्ण मिश्र हैं। इन्होंने अपनी कृति में प्रधान तीर्थ द्वारका, मथुरा आदि को छोड़ कर 'मन्दारहिल' आदि बिहार के एकदेशीय तीर्थों का वर्णन किया है। मन्दार भागलपुर ज़िले के बौंसी नामक स्थान में वर्तमान एक पौराणिक पर्वत है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण मिश्र बिहारी हैं। अतएव वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वान् के विषय में इन्हें ज्ञान होना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। अपनी कृति **प्रबोध चन्द्रोदय** के द्वितीय अंक में इन्होंने वाचस्पति का नाम लिया है[१५] –

नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं कौमारिलं दर्शनं
तत्त्वज्ञातमहो न शालिकगिरां वाचस्पतेः का कथा।
सूक्तं नापि महोदधेरधिगतं माहाव्रती नेक्षिता
सूक्ष्मा वस्तुविचारणा नृपशुभिः स्वस्थैः कथं स्थीयत।।३।।

श्रीकृष्ण मिश्र का समय, इनकी पुस्तक की प्रस्तावना में गोपाल के प्रति जो संकेत है, उससे निश्चितप्राय है। श्रीकृष्ण मिश्र को यह गोपाल प्रकृत नाटक की रचना के लिए बराबर प्रोत्साहित किया करता था। इसका एकमात्र कारण यही था कि इस नाटक

ग्रंथ के द्वारा सेनापति गोपाल अपने राजा कीर्तिवर्मा के भेदी राजा कर्ण पर विजय की स्मृति को अमिट करना चाहता था। कर्ण का नामोल्लेख १०४२ ई. के एक शिलालेख में पाया जाता है। एक दूसरा शिलालेख १०६२ ई. का भी है, जिस में चन्देल राजा कर्ण का नाम उल्लिखित किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण मिश्र का काल ११ वीं शती है।

कीर्तिवर्मा के राजसिंहासन पर अधिरूढ़ होने का वर्णन बुंदेलखंड के कई स्थलों से प्राप्त शिलालेखों में है। एक स्थान प्राप्त सुवर्ण-पत्र पर 'श्रीमत्कीर्तिवर्मदेव' लिखा हुआ मिला है। देवगढ़ से उपलब्ध एक शिलालेख में कीर्तिवर्मा का समय ११५४ बताया गया है। खजुराहो राजधानी में लक्ष्मी मंदिर के शिलालेख से कीर्तिवर्मा का समय ११६१ विक्रम संवत् सिद्ध होता है।[१६] यही समय श्रीकृष्ण मिश्र का निश्चित होता है। इन्होंने अपने ग्रंथ **प्रबोधचन्द्रोदय** में वाचस्पति मिश्र का नाम लिया है। इसलिए वाचस्पति मिश्र का समय दसवीं शताब्दी स्थिर होता है जिसका उल्लेख **न्यायसूची निबंध** में किया है।[१७]

वेदान्त दर्शन के इतिहास में अद्वैत के बाद ही विशिष्टाद्वैत को स्वीकार किया गया है। विशिष्ट अद्वैत के सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य रामानुज ने श्रीभाष्य में किया है। रामानुजाचार्य ने १०१२ शकाब्द में यादवाचल नामक स्थान पर नारायण की मूर्ति को स्थापति किया था। ऐतिहासिकों ने रामानुज का समय इसी के आस-पास माना है। रामानुज ने अपने सिद्धान्त के पोषण में **खण्डनखण्डखाद्य** की कारिका को उद्धृत किया है। 'खण्डन' के रचयिता के पूर्ववर्ती उदयनाचार्य ने अपने ग्रन्थ **लक्षणावली** का निर्माणकाल ९०६ शकाब्द स्वयं निर्दिष्ट किया है। इसी उदयन ने वाचस्पति मिश्र के **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका** पर 'परिशुद्धि' लिखी है। अतः वाचस्पति का समय ८९८ शकाब्द सर्वथा उचित प्रतीत होता है। इसलिए वाचस्पति मिश्र की स्थिति ९७६ ई. या १०३३ विक्रम संवत् सिद्ध होता है।

पाश्चात्य विद्वानों में मैकगेनाल्ड प्रभृति ऐतिहासिकों ने वाचस्पति मिश्र को भोजराज का अनन्तर माना है। उनका तर्क है कि **सांख्यतत्त्वकौमुदी** में वाचस्पति ने राजवार्तिक की कारिका को उद्धृत किया है। इन पाश्चात्य ऐतिहासिकों की दृष्टि में राजवार्तिक की रचयिता भोजराज ही हैं। परन्तु यह आधार सही नहीं प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि भोजराज ने **योगदर्शन** पर जो टीका लिखी है उसका नाम 'राजमार्तण्ड' है। इसके अतिरिक्त योग सूत्रों पर भोजराज का कोई ग्रन्थ नहीं है।[१८] इसलिए भोजराज के बाद वाचस्पति को मानने वाला सिद्धान्त स्वयं खण्डि हो जाता है।

विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी ने वाचस्पति मिश्र का जो समय निर्णीत किया है, उसमें कुछ प्राच्य विद्वानों ने संशोधन किया है। उनका कहना है कि **न्यायसूची**

निबन्ध के उपसंहार में उल्लिखित 'बत्सर' पद विक्रम संवत् परक है। इस आधार पर वाचस्पति का समय नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध (८४१ ई.) निश्चित होता है। इन मतावलम्बियों में डॉ. गंगानाथ झा प्रमुख हैं। इन्होंने **सांख्यतत्त्वकौमुदी** की भूमिका में वाचस्पति का समय ८४१ ई. सिद्ध किया है।

डॉ. झा और द्विवेदी के मतभेद पर गवेषणा करके प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री उदयवीर शास्त्री ने अपना निर्णय देते हुए कहा है कि वाचस्पति ८४१ ई. में विद्यमान थे। डॉ. वुड्श महाशय का भी यही विचार है कि **न्यायसूचीनिबन्ध** का वत्सर पद विक्रमाब्द मूलक ही है।[१९]

परन्तु विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी के निर्णय में वदातोव्याघात है क्योंकि एक जगह उन्होंने बत्सर पद को विक्रम संवत् का ही पर्याय माना है। वाचस्पति मिश्र ने **न्यायसूत्रोद्धार** के अन्त में एक श्लोक लिखा है –

शिवेनोरसि विधृतो पादो नत्वापवर्गादौ।
व्यलेखि न्यायसूत्राख्यं चैत्रे वस्वक्षिवासवे।। इति

इस पद्य में वसु=८, वासव=१४ अर्थात् १४२८ के चैत्र में न्यायसूत्रों को लिखा–ऐसा स्पष्ट है। परन्तु १४२८ किस वर्ष का द्योतक है; शक का अथवा विक्रम का, ईस्वी का अथवा किसी अन्य का। इससे सम्बन्धित कुछ भी उत्तर श्लोक में नहीं है। परन्तु इस संशयास्पद स्थिति में भी विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी ने १२४८ को विक्रम वर्ष ही माना है जबकि एक जगह इन्होंने शक वर्ष स्वीकार किया है। प्रतीत होता है द्विवेदी ने अर्धजरतीन्याय का अनुसरण किया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से ऐसा विश्वास होता है कि वाचस्पति मिश्र ने अव्यवहितपूर्वापरभाव से **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका** तथा **न्यायसूचीनिबन्ध** का निर्माण किया। यह निर्माण काल ईस्वी सन् ही होना चाहिए अन्यथा ८९८ को शक मानने पर यह संभव नहीं जँचता कि तुरन्त बाद ९०६ शक में ही उदयनाचार्य ने परिशुद्धि की रचना कैसे कर दी। इसका कारण यह है कि प्रायः मूलकार और व्याख्याकार विशेषतः संस्कृत साहित्य में समकालिक नहीं हुए हैं। यदि ८९८ को विक्रम संवत् के रूप में ग्रहण किया जाए तो ९०६ शक वर्ष में वर्तमान उदयनाचार्य वाचस्पति मिश्र से १४३ वर्ष पीछे ठहरते हैं।[२०] इस प्रकार वाचस्पति से लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद 'तात्पर्य' पर उदयन ने 'परिशुद्धि' लिखी होगी–ऐसा विश्वास योग्य लगता है। समाधान के रूप में यह एक परम्परा भी ग्रहण करने योग्य है कि **प्रसिद्धेन प्रायो व्यवहारो भवति** इस न्याय के अनुसार न्यायसूचीनिबंध के श्लोक में 'वस्वङ्कवसुवत्सरे' में वाचस्पति ने विक्रम संवत् का नाम नहीं दिया। उदयनाचार्य ने इस परम्परा को स्वीकार नहीं किया अतएव उसे वर्ष का नामकरण करना पड़ा।

तर्काम्बरांकप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्।।

विक्रम संवत् के तत्कालीन प्रसंग को छोड़ने के लिए ही विशेष रूप से उदयन को 'शकान्ततः' के उच्चारण द्वारा शक वर्ष का निर्देश करना पड़ा। आजकल के लेखन क्रम में भी प्रायः यह देखा जाता रहा है कि ईस्वी सन् नहीं लिखकर सिर्फ़ १९७७-७८ वर्ष ही उल्लिखित किया जाता है। इसी को सामान्य रूप से बिना किसी आपत्ति के हम ईस्वी सन् मान लेते हैं।

इसलिए मेरी धारणा है कि **न्यायसूचीनिबन्ध** के अन्त में लिखित श्लोक का 'बत्सर' पद विक्रम संवत् का ही सूचक है। इस प्रकार ८९८ विक्रम वर्ष अर्थात् ८४१ ई. (८९८–५७-८४१) में वाचस्पति ने उक्त ग्रंथ का निर्माण किया। अगर उस समय इनकी अवस्था अधिक से अधिक चालीस वर्ष की भी हो तो भी इन्हें नवम् शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मानने में कोई बाधा नहीं। नृग नामक राजा अथवा नृग उपाधि धारक राजा का भी समय यही होगा —ऐसा मेरा मत है।

---

१. **न्या. वा. ता. टी.**, पृ. ४७
२. **मिथिला विमर्श**, पृ. १०५
३. **भामती** २-२५३३
४. **तात्पर्य**, पृ. ११५
५. **न्या. वा. ता. टी.** पृ. १३३
६. **प्रमाण मीमांसा**, पृ. ३६
७. **वही**, पृ. ३६
८. **न्यायमञ्जरी**, पृ. १२
९. **भामती**, मंगलाचरण
१०. **कल्पतरू**, पृ. ४

११. **न्या. वा. ता. टी.**, पृ. ११५

१२. **न्यायसूची निबंध**, समाप्ति श्लोक ४

१३. **भामती**, पृ. १०२०

१४. **न्या. वा. की भूमिका**

१५. **प्रबोध चंद्रोदय** २/३

१६. ***संस्कृत साहित्य का इतिहास***, *गैरोला* – पृ. ५६२

१७. **न्यायसूची निबंध**, समाप्ति श्लोक ४

१८. **न्यायवार्तिक की भूमिका**, पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी

१९. **हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. ४१७-२३, एवं योगदर्शन व्यास भाष्यानुवाद भूमिका**, पृ. २१-२३

२०. शक वर्ष में १३५ जोडने पर विक्रम संवत् है। वाचस्पति का समय ८९८ वि. स. है और उदयन का ९०६ शक वर्ष। इसलिए ९०६ + १३५ करने पर १०४१ विक्रम संवत् होता है। इस प्रकार वाचस्पति और उदयन में १०४१—८९८ वि. सं १४३ वर्ष का अन्तर होता है।

3

कृतियाँ

वाचस्पति की जीवनी अपने आपमें एक रहस्य है। इन्होंने जिस रीति में अध्ययन और समय का विनियोग किया उससे इनका दार्शनिक ज्ञान स्पष्ट है। भारतीय दर्शन में इन्होंने चार्वाक् से लेकर वेदान्त तक की पुस्तकों का अध्ययन किया और नई दिशाएँ प्रदान की।

आचार्य वाचस्पति मिश्र की कृतियों में सबसे अन्तिम ग्रंथ भामती है जो **ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य** की व्याख्या है। उसके अन्त में आचार्य ने एक श्लोक लिखा है –[१]

यन्न्यायकणिका-तत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः।
यन्न्याय-सांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः।

इस पद्य में जो उल्लेख है इससे वाचस्पति की रचनाओं का अनुमान किया जाता है। इनकी पहली कृति **न्यायकणिका** है जो विधिविवेक की टीका है। **ब्रह्मसूत्र** पर शांकरभाष्य के अध्याय प्रसंग में वाचस्पति मिश्र ने अनिर्वचनीयख्याति के प्रकरण में इस ग्रंथ का स्मरण किया है –[२]

तद् बोधकत्वेन स्वतःप्रामाण्यं नाव्यभिचारेणेति व्युत्पादितः अस्माभिः परिहृतं न्यायकणिकायामिति नेह प्रयतयन्ते।

इनकी दूसरी कृति **ब्रह्मसिद्धि** की व्याख्या **तत्त्वसमीक्षा** है। तीसंरी रचना भाट्टमत पर आश्रित **तत्त्वबिन्दु** है। उद्योतकार के **न्यायवार्तिक** पर **न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका** इनकी चौथी कृति है। न्यायसूत्रों की संख्या और व्यवस्था को ध्यान में रखकर इन्होंने **न्यायसूची निबन्ध** नामक ग्रंथ का प्रणयन किया है। यह पाँचवीं रचना है। ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका** पर **सांख्यतत्त्वकौमुदी** उनकी स्वतंत्र व्याख्या है जो स्वयं एक सिद्धान्त ग्रंथ की तरह और छठवीं कृति पतंजलि के **योगसूत्र** पर इनकी व्याख्या **तत्त्ववैशारदी** है। आठवीं रचना और वाचस्पति मिश्र की आत्मदार्शनिक धारणा **भामती** है।

वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त श्लोक – "यन्न्याय-सांख्य-योगानां वेदान्ता निबंधनैः – में न्याय शब्द से न्याय संबंधी **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका** तथा **न्यायसूची निबंध** दोनों ग्रंथों का ग्रहण होता है।

(१) न्यायकणिका

पूर्वमीमांसा में कुमारिल के अनुयायी मण्डनमिश्र है। इनका नाम वेदांत दर्शन में भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। ऐसी दन्तकथा है कि शंकराचार्य के साथ मण्डनमिश्र का शास्त्रार्थ हुआ था। मण्डनमिश्र पराजित हुए और अपने को उन्होंने शंकराचार्य का शिष्य मान लिया। इसके बाद ये ही मण्डनमिश्र सुरेश्वराचार्य हो गए। इन्होंने **भावनाविवेक, विधिविवेक, विभ्रमविवेक, मीमांसानुक्रमणी** आदि ग्रंथों का निर्माण किया। इन्हीं कृतियों में **विधिविवेक** की विशद और अतिगूढ़ टीका वाचस्पति मिश्र ने लिखी जिसका नाम **न्यायकणिका** है। मीमांसा दर्शन का यह एक दुरूह ग्रंथ है। वाचस्पती के समय में न्याय शब्द का प्रयोग पूर्वमीमांसा दर्शन के लिए ही प्रसिद्ध था। उसके एक लाख न्याय लोक में प्रचलित थे। उन्हीं को आधार मानकर आज भी लोक एवं शास्त्र प्रवर्तित होता है। मीमांसा एवं ब्रह्मसूत्र उन्हीं न्यायों का अनुवर्तन करता है। **न्यायकणिका** मिश्र की पहली पुस्तक है। इसमें अन्य रचित ग्रंथों का कुछ भी उल्लेख नहीं है। **न्यायकणिका** की चर्चा एक जगह **तत्त्वबिन्दु** में है।[३] **भामती** के अध्याय-भाष्य में भी **न्यायकणिका** की चर्चा है।[४] **तत्त्ववैशारदी** (२/३२,४/१४) में भी इस ग्रंथ की स्मृति वाचस्पति की है। इससे इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

न्यायकणिका का प्रथम प्रकाशन १६६४ विक्रम संवत् में काशी मेडिकल हॉल यंत्रालय से हुआ। १४वीं शताब्दी में केरल निवासी भूषि गौरी के पुत्र परमेश्वर ने **जुवध्वङ्करणी** एवं **स्वदितङ्करणी** नामक दो व्याख्याएँ लिखीं। ग्रंथ का प्रथम मंगलश्लोक समाधिपाद के ईश्वर का निरूपक है और इसीलिए योग दर्शन का है। दूसरे श्लोक में ज्ञान महेश्वर से प्राप्त करना चाहिए – यह कहा गया है। यहाँ मिश्र जी महेश्वर शिव को नमस्कार करते हैं। इसके बाद अपने विद्यागुरु त्रिलोचन को उन्होंने प्रणाम किया है।

सकल शास्त्रों में समान अधिकार रखने वाले वाचस्पति ने इस टीका की रचना से अपने को गौरवान्वित और कृतार्थ तो माना ही है साथ ही आचार्य मण्डनमिश्र में भी असीम श्रद्धा दिखलायी है।

आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम्।
रथ्योदिकमिव गंगाप्रवाहपातः पवित्रयति।

इस **न्यायकणिका** का उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने प्रायः अपने सभी ग्रंथों में किया है। अतएव इसका निर्माण सबसे पहले हुआ – ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु प्रस्तुत ग्रंथ के न्यायपूर्वक नामकरण से इसकी न्याय विषमता का संदेह होता है, किन्तु यह तर्क निराधार है। भारतीय दर्शन की परम्परा में मीमांसा ग्रंथों का इस तरह का नाम उपलब्ध होता है। यथा–न्यायरत्न, न्यायमाला इत्यादि। वाचस्पति मिश्र ने

न्यायकणिका में प्रभाकर मत के अनुयायियों को दो भागों में विभाजित किया है – जरत्प्राभाकर और नव्यप्राभाकर। इसका आधार प्रभाकर मत का परंपरागत और आलोचनात्मक रूप है। जहाँ प्राभाकरीय सिद्धान्तों को यथावत् प्रतिपादित किया गया है, वहाँ जरत् प्राभाकर कहा गया है। जिन स्थलों पर प्रभाकर के तर्कों पर आलोचनात्मक विवेचन हैं, उन्हीं की संज्ञा नव्यप्राभाकर है।

(२) ब्रह्मतत्त्व समीक्षा

न्यायकणिका लिखने के बाद मण्डनमिश्र की **ब्रह्मसिद्धि** की व्याख्या वाचस्पति ने शुरू की थी। इसी ग्रंथ का नाम **ब्रह्मतत्त्व समीक्षा** है। इसका प्रकाशन आज तक अनुपलब्ध है। पाण्डुलिपि के विषय में भी इतिहास मौन है। महामहोपाध्याय श्री उमेश मिश्र ने अपने ग्रंथ **भारतीय दर्शन** में लिखा है कि पूर्णिया के उनके संबंधी के यहाँ यह व्याख्या थी, परन्तु उन्होंने देखी नहीं।[५] लेकिन महामहोपाध्याय का यह तर्क आत्मश्लाघापरक प्रतीत होता है। भारतीय विद्वानों की ऐसी धारणा है कि इस व्याख्या-ग्रंथ में वाचस्पति मिश्र ने अपने से पूर्व दार्शनिक विचारों का वर्णन इसमें किया। बाद में **भामती** नामक पुस्तक में सिर्फ़ इन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किए। ब्रह्मतत्त्व समीक्षा के अभाव में आज हम तत्कालीन विस्तृत विचारों का ज्ञान अंशतः भी प्राप्त नहीं कर सके।

(३) तत्त्वबिन्दु

भाट्टमत के आधार पर लिखा गया **तत्त्वबिन्दु** भी मीमांसा दर्शन विषयक ग्रंथ है। इसमें शब्दबोध की प्रक्रिया का मौलिक प्रतिपादन किया गया है। काशी से प्रकाशित **पंडित** पत्रिका में यह ग्रंथ टिप्पणी के साथ मुद्रित है परन्तु लघु होने के साथ ही साथ दुरूह भी है। श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी ने **न्यायवार्तिक** की भूमिका में **तत्त्वबिन्दु** की एक विस्तृत व्याख्या का वर्णन दिया है जिस में चार हज़ार श्लोक हैं। यह टीका स्वयं उनके पास विद्यमान है ऐसा उन्होंने संकेत किया है। **ब्रह्मतत्त्व समीक्षा** और **तत्त्वबिन्दु** इन दोनों टीका ग्रंथों का उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने **न्यायवार्तिक** की टीका में किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उक्त इन दोनों टीकाओं के बाद **न्यायवार्तिक** टीका की रचना हुई है।

(४) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका

वस्तु स्वरूप की सुन्दर विवेचना के लिए तथा ज्ञानप्राप्ति की परिष्कृत पद्धति की पूर्ति के लिए 'न्याय' का आविर्भाव हुआ। गौतम ने न्याय की विद्या से नास्तिकों को उड़ा दिया। परन्तु ग्रंथ दुरूह था। उसको समझने के लिए विद्वानों ने भाष्य, वार्तिक और टीकाएँ शुरू कीं। सबसे पहले वात्स्यायन (पक्षिल स्वामी) ने ही यथाक्रम न्यायसूत्रों

का संशोधन करके उन पर भाष्य रचा। क्षणिकवाद और विज्ञानवाद का इन्होंने प्रबल खण्डन किया। पश्चात् जब बौद्ध महायान संप्रदाय का विकास और प्रभाव हुआ तब वसुबंधु आदि बौद्धों के प्रकाण्ड नैयायिक दिङ्नाग ने वात्स्यायन के आक्षेपों का उत्तर देकर उनकी खरी आलोचना की। इसी पर भारद्वाज गोत्रीय उद्योतकर ने न्यायभाष्य के ऊपर वार्तिक लिखा। इन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक स्थलों पर संशोधन एवं परिष्कार तो किया ही साथ ही पुनः उन सूत्रों की व्याख्या की, परन्तु मूल ग्रंथ की भावना को उन्होंने ध्यान में रखा जैसा कि वार्तिक लक्षण भी है–

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रथं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः।।

न्यायवार्तिक का निर्माण तब हुबा जब क्षीणप्रभ न्यायवाणी फँस चुकी थी। उद्योतकर ने सुक्ष्म बुद्धि के द्वारा तत्कालीन बौद्धदर्शन की मान्यताओं का प्रतिवाद किया और अपनी विचारधारा की प्रतिस्थापना की। उद्योतकर के वार्तिक पर बाद में अनेक व्याख्याएँ और टीकाएँ लिखी गईं जो काल कवलित हो गईं। एक लम्बे अन्तराल के बाद सर्वतंत्र वाचस्पति मिश्र ने अपने गुरु त्रिलोचन से शास्त्रों को पढ़ा और **न्यायवार्तिक** पर व्याख्या लिखी। इसी व्याख्या का नाम **तात्पर्यटीका** है।

नवीं शताब्दी में धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध आचार्यों ने उद्योतकर की न्याय संबंधी धारणाओं पर इतना आक्षेप किया कि उनकी वाणी मलीमस और प्रभाहीन हो गई। बौद्ध विचारों ने उद्योतकर के सिद्धांतों को निगल लिया। न्याय की इस जीर्ण-शीर्ण अवस्था में उद्धार के लिए वाचस्पति मिश्र ने **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका** की रचना की। अपने प्रबल एवं प्रामाणिक तर्कों से बौद्धों द्वारा किए गए आक्षेपों को धूलिसात् कर दिया और पुण्यलाभ तथा आत्म संतोष भी उन्हें खूब हुआ। **तात्पर्यटीका** के अन्त में उन्होंने कहा भी है –

यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्।।

इसलिए दार्शनिक जगत् में वाचस्पति मिश्र की **तात्पर्यटीका** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। उद्योतकर के वार्तिकों का रहस्योद्घाटन करने के कारण वाचस्पति को तात्पर्य की संज्ञा से भी अलंकृत किया जाता है।

(५) न्यायसूची निबन्ध

न्यायशास्त्र में वाचस्पति की दूसरी कृति **न्यायसूची निबंध** है। इस ग्रंथ का निर्माण **तात्पर्य** के पहले हुआ या बाद में – इसका निर्णय यद्यपि आज तक नहीं हो पाया है तथापि इतना स्पष्ट है कि उन दोनों ग्रन्थों की रचना पूर्व ऊपर के व्यवधान से

रहित हुई थी। इस प्रसंग की पुष्टि **न्यायसूची निबंध** तथा **तात्पर्यटीका** के मंगलाचरण श्लोक से होती है जो दोनों पुस्तकों में समान है[६] –

नमामि धर्मविज्ञानवैराग्यैश्वर्यशालिने।
निधये वाग्विशुद्धीनामक्षपादाय तापिने।।

पुनः दोनों ग्रंथों की रचना का उद्देश्य और प्रयोजन भी समान है, सिर्फ़ नाम मात्र का अन्तर है –

यदलम्भि किमपि पण्यं दुस्तरकुनिबन्ध पंकमग्नानाम्।
श्रीगौतम सुगवीनामतिजरतीनाम् समुद्धरणात्।।

न्याय सू. नि. (अन्तिम) श्लो. १

यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्।।

न्याय वा. ता. टीका

और निम्नलिखित श्लोक तो **न्यायसूची निबंध** और **न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका** में प्रायः बिल्कुल मिलता-जुलता सा है –

संसारजलधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखशमहेतौ।
एतस्य फलमखिलं समर्पितमेतेन प्रयीतामीशः।।

परन्तु सूत्र और वार्तिक के स्वाभव और क्रम से ऐसा भी अनुमान होता है कि वाचस्पति ने पहले **न्यायसूची निबन्ध** की सूत्रात्मक रचना के बाद ही उद्योतकर के वार्तिक पर इन्होंने **तात्पर्यटीका** लिखी होगी। सूचीकटाह न्याय से भी इसी पक्ष की पुष्टि होती है।

न्यायसूची निबन्ध में कुल मिलाकर पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं। विषय के अनुसार आह्निक को प्रकरण में बाँटा गया है। जैसे प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में अभिधेय प्रयोजन संबंध प्रकरण, प्रमाण लक्षण प्रकरण, प्रमेय लक्षण प्रकरण, न्याय पूर्वांगलक्षण प्रकरण, न्यायाश्रय सिद्धांत लक्षण प्रकरण, न्याय प्रकरण तथा न्यायोत्तरांगलक्षण प्रकरण सहित सात प्रकरण हैं। इसी प्रकार प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक में चार प्रकरण हैं। इस प्रकार प्रथम अध्याय में प्रकरणों की संख्या ग्यारह तथा सूत्रों की संख्या इकसठ है। द्वितीय अध्याय में कुल तेरह प्रकरण और एक सौ सैंतीस सूत्र हैं। तृतीय अध्याय में प्रकरणों की संख्या सोलह और सूत्रों की संख्या एक सौ पैंतालीस है। चतुर्थ अध्याय में बीस प्रकरण और एक सौ अठारह सूत्र हैं। अंतिम और पाँचवें अध्याय में प्रकरणों का कुल योग चौबीस और सूत्रों का योग सड़सठ है।

ग्रंथ के अंत में वाचस्पति ने **न्यायसूची निबंध** के अध्याय के अध्याय से लेकर अक्षरों तक की गिनती करके सूची का निबंधन किया है। पुस्तक के अंतिम तीन श्लोकों को लिखने के पहले वाचस्पति ने बताया है कि इस ग्रंथ में कुल मिलाकर पाँच अध्याय, दस आह्निक, चौरासी प्रकरण, पाँच सौ अठाईस सूत्र, एक हज़ार नौ सौ छियासठ पद और आठ हज़ार आठ सौ पचासी अक्षर हैं।

आचार्य वाचस्पति ने **न्यायसूची निबंध** के अंत में ग्रंथ का निर्माण समय 'वस्वङ्कवसुवत्सरे' बताया है परन्तु **न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका** की समाप्ति में कुछ भी काल सूचित नहीं किया है। इसका कारण बहुत प्रयास से साध्य **तात्पर्यटीका** की रचना है। ग्रंथ निर्माण में इतना पर्याप्त समय लग गया कि **न्यायसूची निबन्ध** में पहले समय का संकेत कर देने के बाद लिखे गए **तात्पर्यटीका** में वाचस्पति ने समय को अंकित करना उचित नहीं समझा। इससे स्पष्ट होता है कि वाचस्पति ने पहले **न्यायसूची निबंध** को लिखा बाद में **तात्पर्यटीका** को ऐसी मेरी धारणा है।

(६) सांख्यतत्त्वकौमुदी

सांख्यदर्शन में **सांख्यसूत्र** से भी अधिक प्रशास्ति ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका** की है। कहा जाता है 'षष्टितन्त्र' के आधार पर सांख्यदर्शन के ऊपर **सांख्यकारिका** नामक एक संयोगपूर्ण ग्रंथ लिखा गया था। यही कारण है कि प्रस्तुत पुस्तक बहुत आदरणीय है। **सांख्यकारिका** के ऊपर आठ टीकाएँ उपलब्ध होती है – माठरवृत्ति, गौड़पाद भाष्य, जयमंगला सरल चन्द्रिका, सांख्यतत्त्वकौमुदी, युक्तिदीपिका और सुवर्ण सप्ततिशास्त्र। इन आठ टीकाओं में **तत्त्वकौमुदी** वाचस्पति मिश्र की टीका है।

सांख्य के ऊपर एक बृहत् एवं परिपूर्ण टीका होने के कारण **तत्त्वकौमुदी** को सांख्यशास्त्र का प्रधान ग्रंथ माना जाता है। वाचस्पति की यह व्याख्या लोकोत्तर, गूढ़ एवं वाचस्पति की विद्धत्ता के अनुरूप है। इसका निर्माण न्यायग्रंथ के बाद हुआ जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्वकौमुदी' में लिखा भी है – सर्वं चैतद् अस्माभिः न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति। मूल रूप से वाचस्पति न्यायिक ही प्रतीत होते हैं। इसलिए सांख्यतत्त्वों का प्रतिपादन करने में इनकी प्रक्रिया न्याय प्रधान हो गई है। न्याय-भूमि की इस दृष्टि से कहीं-कहीं टीका बहुत दुरूह तो हो ही गई है, सांख्यशास्त्र के विचारों से सर्वथा पराङ्मुख भी हो जाती है। आनुश्रविक प्रमाण के विवरण के प्रसंग में उन्होंने अपनी सहज शैली का उदाहरण स्वयं पेश किया है:–

"गुरुपाठात् अनश्रूयते अति अनुश्रवो वेदः एतदुक्तं भवति – श्रूयत एव परं न केनापि क्रियते इति। तत्र भवः आनुश्रविक इति। तत्र प्राप्तो ज्ञात इति यावत्। आनुश्रविकऽपि कर्म-कलापो दृष्टेन वर्तते। ऐकान्तिक आत्यान्तिक दुःखप्रतीकाराणामुपायत्वस्य

उभयत्रापि तुल्यत्वात्। यद्यपि च आनुश्रविक इति सामान्येन अभिहितं तथापि कर्मकलापाभिप्रायं द्रष्टव्यम्। विवेकज्ञानस्यापि आनुश्रविकत्वात् तथा च श्रूयते– आत्मावारे प्रष्टव्य इत्यादि। न स पुनरावर्तते इत्यादि च।

यह व्याख्या तुलनात्मक दृष्टि से लिखी गई है। सांख्य मतों के प्रतिपादन के साथ ही अन्य विरोधी मतों का खण्डन भी स्थल-स्थल पर वाचस्पति ने किया है। सत्कार्यवाद की व्याख्या के प्रसंग में अन्य दर्शनों के कारण - कार्य सिद्धान्त का खण्डन करते हुए तत्त्वकौमुदीकार ने सत्कार्य की स्थापना की है। कहीं-कहीं **सांख्यकारिका** के अत्यन्त संक्षिप्त मत को भी विशदता के साथ उल्लिखित करके तत्त्वकौमुदी न सिर्फ व्याख्यामात्र है अपितु एक भौतिक पुस्तक हो गयी है। प्रमाण-कारिका के क्रम में वाचस्पति का अनुमान साधन इसका सच्चा निदर्शन है। **सांख्यतत्त्वकौमुदी** मात्र को पढ़कर विद्वान् अपने को सांख्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता मानते हैं। **तत्त्वकौमुदी** के ऊपर अनेक व्याख्याएँ लिखी गई हैं, जिनमें बलराम उदासीन की व्याख्या आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में उत्कृष्ट है।

(७) तत्त्ववैशारदी

योगदर्शन का मूलग्रंथ महर्षि पतंजलि का **योगसूत्र** है। इस पर व्यास ने व्यासभाष्य लिखा है। यह व्यास **महाभारत** के रचयिता से अन्य हैं। इनका भाष्य बहुत विस्तृत और दुरधिगम्य है। इसपर अनेक टीकाएँ अवश्य ही लिखी गई हैं, परन्तु वाचस्पति मिश्र की **तत्त्ववैशारदी** नामक भाष्यटीका पूर्ण रूपेण उपलब्ध है, जो सरल और बोध्यगम्य है। सूत्रात्मक शैली और पारिभाषिक शब्दावलियों के समूह से योगदर्शन स्वतः दुरूहार्थ है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही व्यासकृत भाष्य है। परन्तु इस ध्येय की सर्वथा पूर्ति इस टीका से नहीं हो सकी। उसी पर वाचस्पति मिश्र ने **तत्त्ववैशारदी** नामक टीका लिखकर योगशास्त्र का महान् उपकार किया। बाद में विज्ञानभिक्षु ने **तत्त्ववैशारदी** पर **योगवार्तिक** भी लिखा है।

योगशास्त्र के सिद्धांतों को **तत्त्ववैशारदी** में वाचस्पति मिश्र ने उस ढंग से विशद किया है कि रहस्य ग्रंथि सूर्य के सामने निक्षिप्त पदार्थ की तरह स्पष्ट हो जाता है। 'तस्य वाचकः प्रणवः' आदि सूत्र की व्याख्याएँ इसके उदाहरण हैं। ईश्वर की स्थापना में 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः' की व्याख्या में वाचस्पति ने ईश्वर की सत्ता में अपने तर्कों को जिस प्रबल रूप में उल्लिखिन्त किया है, उसके आलोक में निरीश्वरवादियों की बोलती बंद हो जाती है। योग की चार भूमियाँ – प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्त भावनीय–वाचस्पति की बुद्धि से विशद और प्रशस्त हो गई है। विवेकादि के संयोग से प्रज्ञा के सात भेद वाचस्पति की सूक्ष्म ईक्षण शक्ति को सिद्ध करती है। क्लेश से मुक्त होने के लिए

तथ चित्त को समाहित करने के लिए योग के आठ अंगों का वर्णन **तत्त्ववैशारदी** में किया है जो बहुत ही प्रांजल एवं तर्कपूर्ण है। निश्चित ही **तत्त्ववैशारदी** से योग के तत्त्वप्रतिपादन में वाचस्पति विशारद हैं।

(८) भामती

आचार्य वाचस्पति मिश्र की आठवीं कृति **भामती** है। यह **ब्रह्मसूत्र** के शांकरभाष्य के ऊपर गंभीर और असाधारण टीका के रूप में विराजमान है। वाचस्पति की सर्वतोनुखी विद्वत्ता और प्रतिभा शक्ति के रूप में यह वेदान्तशास्त्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यह सही है कि वाचस्पति मिश्र ने अनेक दर्शनों पर ग्रंथ लिखे, परन्तु **भामती** उन सब ग्रंथों की अंतिम परिणति है। वाचस्पति ने इसे ही अपने तंत्र के रूप में स्वीकार किया है।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका का निर्माण करके आचार्य मिश्र ने अपनी वाणी पवित्र की थी। उन्हें आचार्य शंकर के साहित्य में प्रवेश करने की अभिलाषा बहुत अधिक थी। **न्यायकणिका** में उन्होंने शंकराचार्य के प्रति श्रद्धा प्रकट की है। **भामती** के प्रारम्भ में उन्होंने आचार्य शंकर की कृति में अपने प्रवेश को भाग्य ही माना है – आचार्यकृतिनिवेदनम्।

वेदान्तसूत्र में कुल ५५४ सूत्र, १८६ अधिकरण, १६ पाद और चार अध्याय हैं। इन पर आचार्य शंकर ने भाष्य किया है। वाचस्पति मिश्र ने उस भाष्य पर **भामती** लिखी है। अब तक प्रचलित वेदान्त ग्रंथों में **भामती** उत्कृष्ट और सर्वमान्य है। *प्रचलित दन्तकथाओं के आधार पर शंकराचार्य के भाष्य की मान्यता के लिए ही* वाचस्पति ने उसपर **भामती** टीका लिखी थी। दर्शन के विद्वानों की यह धारणा थी कि जब तक वाचस्पति की लेखनी उनकी कृतियों पर नहीं चलती, दर्शन की उस पोथी की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती थी। यह प्रभाव पूरे भारत पर छाया हुआ था। इसलिए दाक्षिणात्य शंकर ने भाष्य लिखकर वाचस्पति मिश्र से उस पर **भामती** लिखने की प्रार्थना की थी।

वेदान्तदर्शन वाचस्पति मिश्र के समय तक पूर्णतः पल्लवित एवं विकसित हो चुका था। भिन्न-भिन्न विद्वानों की अपनी-अपनी विचार सरणियाँ वैयासिक सूत्रों की व्याख्या से प्रसृत हो रही थीं। इन्हीं दिनों वाचस्पति ने उस पर **भामती** लिखी जो वेदांत के पूर्वसिद्धान्तों को गर्भ में रखकर लिखी जाने पर भी स्वतंत्र ही प्रस्थान के रूप में विराजमान है। इसी को आधार मानकर अनेक वेदान्तियों ने जीव-जगत् सम्बन्धी अनेक विचारों का प्रतिपादन किया। सबके मूल में 'अद्वैत' का कोई न कोई अंश अवश्य ही विद्यमान रहा। किसी ने विशिष्ट अद्वैत माना तो दूसरे ने शुद्ध

'अद्वैत'। कुछेक ने द्वैत माना तो अन्य ने द्वैत-अद्वैत और केवल अद्वैत। परन्तु सब सिद्धान्तों में 'अ' या 'द्वैत' शब्द अवश्य ही जुटा था।

भामती के सिद्धान्तों के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि आचार्य मिश्र पर मण्डन मिश्र का प्रभाव है। जीवविषयक मण्डन मिश्र के विचार को ही स्वीकार कर वाचस्पति ने यह प्रतिपादन किया है कि अनादिकाल से अविद्या जीवाश्रित होकर विषय बनाती है। इसे स्पष्ट करते हुए ही भामतीकार ने 'अनिर्वाच्यविद्या' इस मङ्गल श्लोक को पढ़ा है। कल्पतरुकार ने इस पर विशद प्रकाश डाला है। **भामती** के भिन्न प्रस्थानत्व में 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यों मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, इस उदाहरण को उद्धृत किया जा सकता है जिससे **श्रोतव्य** का विश्लेषण करते हुए मिश्र ने किसी विधि को आत्मसाक्षात्कार में स्वीकार नहीं किया है जब कि अन्य आचार्य नियमविधि परिसंख्याविधि आदि को अङ्गत्वेन मानते हैं।

प्रतीत होता है कि दर्शन के क्षेत्र में **भामती** वाचस्पति मिश्र के सैद्धान्तिक मनोभाव का स्पष्ट रूप है। फिर भी अन्य दर्शनों के व्याख्यान काल में इन्होंने किसी भी पूर्वाग्रह को सर्वथा छोड दिया है। ग्रंथ के अन्त में कतिपय श्लोकों को लिखकर वाचस्पति ने अपने समय और ग्रंथ के विषय में जो कुछ परिचय दिया है, एकमात्र वही आज उनके विषय में अन्वेषण का कुछ भी मार्ग दे सका है।

(६) न्यायसूत्रोद्धार

वाचस्पति ने जिन स्वरचित ग्रंथों को **भामती** के अन्त में दिखाया है, सूत्रोद्धार की उनमें चर्चा नहीं है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि उपर्युक्त ग्रंथ भी वाचस्पति मिश्र द्वारा ही रचित है। प्रसिद्ध विद्वान् सुरेश चन्द्र बनर्जी ने **न्यायसूत्रोद्धार** का कर्त्ता वाचस्पति मिश्र को माना है।[७] परन्तु ऐसी सम्भावना है कि वाचस्पति ने बौद्धों के आक्षेप के परिहार के लिए न्यायशास्त्र में जिन दो पुस्तकों को लिखा था उन्हीं को **न्यायसूत्रोद्धार** कहा गया है। डॉ. राधाप्रसाद मिश्र ने बनर्जी महोदय के सिद्धान्त को अपने सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा में ठहराया है।

महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश ने वाचस्पति मिश्र द्वितीय को **न्यायसूत्रोद्धार** का रचयिता माना है। इनका समय खिष्टाब्द की १५वीं शताब्दी है। इस द्वितीय वाचस्पति ने पूर्ण विचार के साथ **न्यायतत्त्वालोक** नामक ग्रंथ में न्यायसूत्र की नई व्याख्या प्रस्तुत की है। इन्हीं का ग्रंथ **न्यायसूत्रोद्धार** भी है। इसमें सम्पूर्ण न्यायसूत्रों की संख्या ५३१ है जबकि वृद्ध वाचस्पति कृत **न्यायसूची निबंध** में सूत्रों की संख्या केवल ५२८ है। न्याय, सांख्य, योग, मीमासा और वेदान्त पर इनकी टीकाएँ हैं। वैशेषिक पर उनकी कोई भी टीका उपलब्ध नहीं है। परन्तु आचार्यो की मान्यता है कि न्याय

वैशेषिक में तंत्रागत कोई विशेष अन्तर नहीं, इसलिए न्याय के व्याख्या के अवसर में ही आचार्य ने वैशेषिक की भी व्याख्या कर दी ऐसा लक्ष्य करके षड्दर्शन के टीकाकार के रूप में इनकी प्रसिद्धि है।[८] इन्होंने आस्तिक दर्शनों की टीका में एक ही लक्ष्य रखा है – समन्वय दृष्टि का। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि अपने अप्रतिम वैदुष्य के उद्घाटन के लिए वाचस्पति ने टीका नहीं लिखी थी। इन व्याख्याओं के पीछे उनकी दो दृष्टियाँ थीं। प्रथमतः दुरूह दर्शनशास्त्र के वास्तविक तात्पर्य का आविष्करण और समुद्धार ताकि विच्छिन्न मतों का मौलिक ज्ञान हो सके। द्वितीयतः आदिकारिक रूप से सभी दर्शनों को प्रामाण्य बताकर उनका समन्वय। यह समन्वयात्मक कार्य अन्य आचार्यों ने भी किया परन्तु एक दर्शन को दूसरे में मिलाकर या किसी को गौण और किसी को मुख्य बताकर। परन्तु इस मनीषी ने एक अधिकारी के विशेष दृष्टि से सबके सिद्धांत को समान महत्व देकर किसी एक बिन्दु पर ऐसा स्थापित किया। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि के प्रति अपने ग्रंथों में आदर प्रकट करते हुए इन्होंने अपनी आस्तिकता के आचार्यत्व को सार्थकता प्रदान की है।

भाषा-शैली

दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में रहस्य और गाम्भीर्य के कारण भाषा भी कठिन हो ही जाती है – ऐसी जनसामान्य की धारणा है। जहाँ-तहाँ दर्शन के ग्रंथों में इस तरह की शैली मिलती है। किन्तु आचार्यवर्य वाचस्पति मिश्र ने **भामती** में इस विचार का खण्डन किया है। शंकराचार्य के **अध्यासभाष्य** को उदाहरणार्थ रखा जा सकता है –

'कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेध्यासोऽवियमस्तद्धर्माणाम्। सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये 'विषयान्तरमध्यस्येति' युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि तथाप्यन्योन्य· ।

शंकराचार्य की उस सन्देहास्पद तथ्य वाली भाषा को देखकर वाचस्पति **भामती** में स्पष्टतः आक्षेप करते हैं –[६]

अत्र च युष्मदित्यादिर्मिथ्याभवितुं युक्तमित्यन्तःशङ्का ग्रंथः। तथापीत्यादिः परिहारग्रंथः। तथापीत्यभिसम्बन्धाकांक्षायां भवितुं युक्तमित्यन्तःशङ्का ग्रंथः। तथापीत्यादिः यद्यपीति पठितव्यम्। इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति वक्तव्ये युष्मद्ग्रहणमत्यन्तभेदोपलक्षणार्थम्। तथाहि अहंकारप्रतियोगित्वंकारो नैवमिदनहंकारः, एते वयमिमे वयमास्मह इति बहुलं प्रयोगदर्शनादिति।

वाचस्पति का उपर्युक्त कथन आचार्य शंकर की जटिल भाषा की प्रतिक्रिया में ही है। इससे स्पष्ट होता है कि वाचस्पति की दृष्टि में भाषा प्रयोग में सरल और सहज होनी चाहिए।

वाचस्पति की लेखन-कला में एक स्वाभाविक प्रवाह है। शैली स्थानों में भाषा अत्यन्त सरल, आकर्षक एवं चारुरुचिपय रहित है। शास्त्रयोनित्व प्रकरण में ऋग्वेद आदि को निःश्वास की तरह अल्प आयास में निःसृत प्रतिपादित करते हुए उन्होंने इसी वार्तालाप की शैली को अपनाया है –

किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्, यावता पूर्वसूत्र एवं जातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्राह्मणोदीरितिम्। उच्यते–तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्य अनुपादानाज्जन्मादिकेवलम् अनुमानमुपन्यस्तमिति आशङ्कयेत शङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रम्।

इनकी शैली की एक और विशेषता यह है कि अत्यन्त गम्भीर प्रसंग को भी देश काल की घटनाओं के उदाहरण से सरल बनाकर इन्होंने प्रस्तुत किया है। पूर्वपक्ष के रूप में ब्रह्म की सत्ता का अपलाप करते हुए इनका कहना है कि सन्देहास्पद वस्तु में ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है। कोई भी व्यक्ति प्रकाश में स्पष्टतः दृश्यमान् पुरोवर्ती घर में 'यह क्या है' ऐसी शंका नहीं करता। पुनः सप्रयोजनता में ही ज्ञानेच्छा उत्पन्न होती है। कौवे को दांत हैं कि नहीं, इस विषय में किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति को जिज्ञासा नहीं होती –

यदसन्दिग्धमप्रयोजनं च न तत् प्रक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः यथा समनस्केन्द्रियसन्निकृष्टः स्फीतालोकमध्यवर्तीघटः करटदन्ता वा तथा चेदं ब्रह्मेति व्यापक विरुद्धोपलब्धिः।... नहि जातुचिदत्र सन्दिग्धे अहं वा नाहं वेति।

अध्यासभाष्य पर **भामती**।'

सर्वदर्शन संग्रह के रचयिता माधवाचार्य वाचस्पति की शैली और विषय प्रतिपादन की कला से इतने प्रभावित हैं कि श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण करते हैं –[१०]

भामतीकारेणाप्युक्तम् – शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विचारयन्ति न प्रतिपत्तारः इति। तथा च आत्मगोचरस्य अध्यासात्मरूपत्वं सुस्थम्।

सांख्यतत्त्वकौमुदी की व्याख्या शैली अत्यन्त उत्कृष्ट विदित् और सुबोध है। वाचस्पति पहले व्युत्पत्तिपूर्वक शब्दार्थ का प्रदर्शन करते हैं और तदनन्तर कारिका के भावों को स्पष्ट करते हुए सुन्दर उपयुक्त उदाहरणों से साङ्गोपाङ्ग विषय का निरूपण करते हैं। उदाहरणार्थ 'प्रतिविषयाध्यासः' इस कारिका पर इनकी **तत्त्वकौमुदी** द्रष्टव्य है।[११] 'माधवाचार्य ने ईश्वरकृष्ण की निम्नलिखित कारिकाओं को अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है –

अभिमानोऽहङ्कारः तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्ग :
एकादशकरणगतस्तन्मात्रपञ्चकं चैव।

सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्।।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः।।

इसी क्रम में वे अपने सिद्धान्त की सम्पुष्टी के लिए आदर से बहुवचन के द्वारा विशेष सम्मान का भाव प्रकट करते हुए वाचस्पति को भाव एवं भाषा को ध्यान में रख कर स्मरण करते हैं और **तत्त्वकौमुदी** को उद्धृत भी करते हैं –

विवृतं च तत्त्वकौमुद्याचार्यवाचस्पतिमिश्रेणेत्यादिना

सर्वदर्शन संग्रह पृ. ६२४

वस्तु विवेचन में भाव एवं भाषा की प्रधानता है। विषय अपने अनुकूल प्रतिपादन शैली से स्पष्ट होता है। भावना भाषा से प्रकट होती है और शैली उसमें उत्कर्ष लाती है। उसमें भी व्यक्ति का सुलझा हुआ व्यक्तित्व प्रमुख है। इसलिए भाषा और शैली व्यक्तिनिष्ठ हैं और लेखक की प्रतिभा और कल्पना में चारुत्व उत्पन्न करती है। इस विवेचन के क्रम में अगर देश और काल की घटनाओं का समावेश करते हुए उदाहरण पेश किए जाते हैं तो विषय में और अधिक स्पष्टता होती है। वाचस्पति मिश्र ने सदा इन सावधानियों पर ध्यान रखा है। देश और काल के परिप्रेक्ष्य में मानव जीवन की घटनाओं के उदाहरण का पुट देते हुए इन्होंने मुहावरे और कहावतों का भी प्रयोग किया है, जिसके चलते भाषा में प्रवहणशीलता और आकर्षण उत्पन्न होते हैं। इससे शैली में एक विशेष प्रकार का चमत्कार आता है ओर गम्भीर विषय सरलतर हो जाता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कहावत द्रष्टव्य है –[१२]

अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे।

तथा[१३]

तेन तप्योपमेयत्वं रामरावणयुद्धवत्।

योगदर्शन की व्याख्या में वाचस्पति की शैली विशेषतः स्पष्ट और भाषा प्रवाहशील है। लगता है, सांख्य के दार्शनिक सिद्धान्तों को योग के व्यवहार में लाने के लिए ये किसी प्रयोगशाला में खड़े होकर प्रदर्शन कार्य कर रहे हैं। **सर्वदर्शन** के रचयिता माधव इनकी विद्धत्ता से अत्यधिक प्रभावित हैं और बार-बार इन्हें आदर के साथ अपने सिद्धान्त के समर्थन में उद्धृत करते हैं। माध्वाचार्य ने इनको सामने रखकर कहा है –[१४]

तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रेण व्यासभाष्यव्याख्यायाम्–
प्रसुप्तत्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसंगिनाम्।

तत्त्ववैशारदी – २/४

वहीं उन्होंने पुनः कहा है –

वाचस्पतिमिश्रैरप्युक्तम्--लोकाधीनावधारणा हि शब्दार्थयोः सम्बन्धः।

लोके च उत्तरपदार्थप्रधानस्यापि न उत्तरपदाभिधेयापमर्दस्य तद् विरुद्धतया तत्र-तत्र उपलब्धेरिहापि तद्विरुद्धे प्रवृत्तिरिति।

सर्वदर्शन संग्रह पृ. ८३७

तौतादिक मत का प्रतिपादन इनका **विधिविवेक** भी इसी तरह की शैली और भाषा में लिखा ग्रंथ है। 'न्यायकणिका' में मीमांसा दर्शन का इन्होंने विवेचन किया है, जिसमें स्वतः प्रामाण्य जैसे गम्भीर विषय का सहज शैली और भाषा में दर्शन मनोहर और सरल है। इस प्रसंग का उल्लेख माध्वाचार्य ने अपनी पुस्तक में किया है। इससे स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र की भाषा और शैली दर्शन जैसे दुरूह शास्त्र के लिए अद्वितीय है, जिसका प्रधान अलंकार विषय की स्पष्टता है।

---

१. **भामती** – पृ. १०२०
२. **वही** – पृ. ३०
३. **तत्त्वबिन्दु** – १२०
४. **भामती** – पृ. ३०
५. **भारतीय दर्शन** – पृ. ३५२
६. **न्यायसूची निबंध** तथा **तात्पर्य मंगलश्लोक,** १.
७. **ए कम्पेनियन टु संस्कृत लिटरेचर,** पृ. १०३
८. न्यायव्याख्यानि वैशेषिकस्यापि व्याख्यातभूतत्वात् षड्दर्शनटीकाकृत इत्युच्यते। अतो वस्तुतः पंचदर्शनव्याख्याकर्तृत्वेपि न विरोधः।
९. **अध्यायभाष्य** पर **भामती**
१०. **सर्वदर्शन संग्रह** - पृ. ७७६
११. **सांख्यतत्त्वकौमुदी** - कारिका/४१
१२. **भामती** – पृ. १६
१३. **वही** – पृ. २२४
१४. **सर्वदर्शन संग्रह** – ६६५-६६

4

भारतीय दर्शन में वाचस्पतियों की संख्या

भारतीय दर्शन में वाचस्पति नाम आज विवाद का विषय बना हुआ है। इसका कारण भामतीकार वाचस्पति की विद्वत्ता और प्रतिष्ठा है। वाचस्पति की तरह प्रखर विद्या प्राप्त करने की लालसा से परिवार के लोगों ने वाचस्पति नाम को बहुत शुभद मान लिया। परिमाणतः वाचस्पतियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व ने सन्देह सागर में चिन्तकों को मग्न कर दिया है।

प्रथम वाचस्पति

आज वाचस्पति नामधारी सात व्यक्तियों की चर्चा है। इसमें प्रथम वृद्ध वाचस्पति मिश्र हैं जो **भामती** आदि ग्रंथों के रचयिता हैं। इन्हें ही सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र या वाचस्पति प्रथम के नाम से जाना जाता है। वाचस्पति नामकरण का प्रारम्भ इन्हीं से है।

द्वितीय वाचस्पति

दूसरी संख्या में आने वाले वाचस्पति को **न्यायतत्त्वालोक** और **न्यायसूत्रोद्धार** का रचयिता माना जाता है। इनका भी जन्मस्थान मिथिला ही है, यद्यपि मुझे इसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिला है। हर्ष के **खण्डन** पर **खण्डनोद्धार** लिखने के कारण इनका समय हर्ष के अनन्तर है। विद्वानों ने इन्हें १५वीं शताब्दी में सिद्ध किया है।

तृतीय वाचस्पति

वाचस्पतियों में तीसरे वाचस्पति मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान् शंकर मिश्र के समसामयिक हैं। इनकी प्रसिद्धि निबन्धकार स्मार्त वाचस्पति के रूप में है। मिथिला की प्रसिद्ध जनश्रुति इन्हीं के विषय में है –

शङ्करवाचस्पत्यौ शंकरवाचस्पतिसदृशौ।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्ष्यीभूतो न कुत्रापि।।

पक्षधरमिश्र ही प्रसिद्ध विद्वान् जयदेव हैं। इनकी युवावस्था में ही शंकर और वाचस्पति के नाम विद्वत्मण्डली में प्रसिद्ध हो चुके थे। पक्षधर मिश्र रघुनाथ शिरोमणि के गुरु थे। वैशषिक दर्शन की उपस्कार टीका में अत्यन्ताभाव की स्वरूप व्यवस्था के क्रम में विभिन्न मतों का विश्लेषण करके भी शंकर मिश्र ने रघुनाथ शिरोमणि के मत को न तो उद्धत ही किया है और न मूल्यांकित ही। इससे स्पष्ट होता है कि शंकर मिश्र रघुनाथ शिरोमणि के पूर्ववर्ती हैं। रघुनाथ शिरोमणि का समय १५वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित किया जाता है।

शंकर मिश्र ने १५वीं शताब्दी के मध्य में **भेदरत्न** नामक ग्रंथ लिखा। इसका लेखनकाल संवत् १५१६ और ख्रिष्टाब्द (१५१६-५७) १४६२ है। यह पुस्तक आज भी जम्मू प्रान्त के पुस्तकालय में उपलब्ध है। इस ग्रंथ की रचना से स्पष्ट होता है कि शंकर मिश्र का समय १५वीं शती का पूर्वार्द्ध है। फलतः वाचस्पति तृतीय का समय भी १५वीं शताब्दी ही ठहरता है।

तीसरे वाचस्पति ने मुख्यतः कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ लिखे हैं। मिथिला के महाराजा भैरवेन्द्र देव की पत्नि की आज्ञा पर इन्होंने **द्वैत निर्णय** नामक स्मृति ग्रंथ का निर्माण किया। इसके प्रारम्भ में उन्होंने स्वयं लिखा है –

श्री भैरवेन्द्रधरणीपतिधर्मपत्नी,
राजाधिराजपुरुषोत्तमदेवमाता।।

राजा भैरवेन्द्र का समय रायबहादुर मनमोहन चक्रवर्ती ने १४४० ई. से १४५७ तक माना है। इसलिए वाचस्पति तृतीय का भी यही समय निश्चित होता है।

स्मृति और कर्मकाण्ड सम्बन्धी कुछ ग्रंथ निम्नलिखित हैं – **विवादचिन्तमाणि, श्राद्धचिन्तामणि, नीतिचिन्तामणि, विवादनिर्णय, शुद्धिनिर्णय, शब्दनिर्णय, अनुमान खण्डटीका** आदि। अन्तिम पुस्तक को छोड़कर उपर्युक्त सारे ग्रंथ मुख्यतः कर्मकाण्ड के विधि-विधान से ही सम्बन्धित हैं।

चतुर्थ वाचस्पति

सांख्यकारिका की अन्यतम टीका **युक्तिदीपिका** है। इसकी अन्तिम पुष्पिका में जो उल्लेख मिलता है, उससे स्पष्ट होता है कि इस टीका के रचयिता का नाम वाचस्पति हैं –

कृतिरियं श्रीवाचस्पतिमिश्राणाम्।

इस अंश के आधार पर कुछ विद्वान् इस टीकाकार को प्रथम वाचस्पति से अभिन्न मानते हैं। परन्तु अधिकांश आचार्य इस तथ्य को प्रक्षिप्त मानते हैं। इस व्याख्या ग्रंथ का निर्माता कोई अज्ञात सांख्यतत्त्ववेत्ता हैं।

उदयवीर शास्त्री के अनुसार यह टीका सांख्यकारिका की जयमंगला टीका से भी प्राचीनतर है। इस **युक्तिदीपिका** का सम्भावित रचनाकाल विक्रम की पाँचवी शताब्दी है। परन्तु जहाँ तक **युक्तिदीपिका** के भाषा-प्रयोग और विषय प्रतिपादन का प्रश्न है, यह ग्रंथ प्राचीन न होकर अर्वाचीन ही हो सकता है। आधुनिकतम अन्वेषण के अनुसार इस टीका ग्रन्थ के रचियता राजा भोज से भिन्न राज नामक कोई अन्य विद्वान् हैं जिनकी दूसरी रचना **राजवार्तिक** है।[1]

पंचम वाचस्पति

इन चार वाचस्पतियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी नाम हैं, जिसके आगे वाचस्पति जुड़ा हुआ है। विशेषतः दर्शन के गणमान्य आचार्य ही इस परम्परा के अग्रणी है यथा रत्नाकर विद्यावाचस्पति, मधुसूदन वाचस्पति, रुद्रनाथ न्यायवाचस्पति इत्यादि। ये विद्वान् चाहे तो बंगाल के रहे हैं या मिथिला के। दर्शन शास्त्र के उद्भट विद्वान् प्रथम वाचस्पति को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः अवान्तरकालीन विद्वानों ने वाचस्पति को बृहस्पति की तरह सर्वशास्त्रज्ञ के अर्थ में रूढ़ मानकर विद्धत्ता को संकेतित करने के लिए अपने नाम के आगे या तो स्वयं जोड़ लिया है या लोगों के द्वारा आदर से जोड़ दिया गया।

पंचम वाचस्पति वासुदेव सार्वभौम के छोटे भाई रत्नाकर विद्यावाचस्पति हैं। ये नदिया के विशारद के पुत्र थे। डॉ. राजेन्द्रपाल मित्र के अनुसार इनके बड़े भाई वासुदेव गौड़ देश के निवासी आचार्य थे, जिन्होंने **अद्वैतमकरन्द** का परिशोधन किया था –

श्री वासुदेव विदुषा गौडाचार्येण यत्नतः।
अद्वैतमकरन्दस्य क्रियते परिशोधनम्।।

परन्तु इस पुस्तक की समाप्ति में लिखित 'श्रीवन्द्यान्वय' – इस श्लोक में कहा गया है कि ये नरहरि विशारद के पुत्र थे। नरहरि वेदान्तशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे।[2] विशारद इनके पाण्डित्य की उपाधि थी। इसलिए विद्या वाचस्पति का जन्म स्थान भी गौड देश नहीं होकर नदिया बंगाल ही सिद्ध होता है। इनका समय १७वीं शताब्दी है।

रत्नाकर विद्यावाचस्पति की प्रसिद्धि विद्यावाचस्पति के नाम से थी। ये सनातन गोस्वामी के गुरु थे। **श्रीमद्भागवत** के दशम स्कन्ध की व्याख्या में गोस्वामी ने अंत में लिखा भी है – "भट्टाचार्यं सार्वभौमं विद्यावाचस्पतीन् गुरून्।" विद्यावाचस्पति में बहुवचन परम आदर का सूचक है। इनको एक पुत्र हुआ था जिसका नाम काशीनाथ था। ये मुख्यतः न्यायशास्त्र के निष्णात विद्वान् थे।

षष्ठ वाचस्पति

छठवें वाचस्पति में गणना मधुसूदन वाचस्पति की है। 'नवद्वीप महिमा' के

आधार पर इनके पिता का नाम भवानन्द सिद्धान्त वागीश था। भवानन्द ने १६वीं शताब्दी में नदिया में अध्यापन किया था। राघवेन्द्र भट्टाचार्य इनके न्यायशास्त्र के शिष्य थे। इसलिए वाचस्पति को भी भट्टाचार्य का समकालीन माना जाता है। इस तरह इनका समय १६वीं शती का उत्तरार्द्ध स्थिर होता है।

उद्भट के एक श्लोक में मधुसूदन के साथ एक वाचस्पति का उल्लेख मिलता है– मिथिलायाः समायाते मधुसूदनवाक्पतौ। यह वाचस्पति मधुसूदन वाचस्पति से भिन्न है। प्रतीत होता है यहाँ जिस मधुसूदन का संकेत है वह **अद्वैतसिद्धि** वेदान्त ग्रंथ का निर्माता है जो किसी वाचस्पति के साथ मिथिला भी पहुँचा होगा। नरहरि चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक **भक्तिरत्नाकर** में बताया है कि मधुसूदन वाचस्पति काशी में अध्यापक थे। इन्हीं के शिष्य श्री जीवगोस्वामी हैं। ये मधुसूदन वाचस्पति वेदान्ती मधुसूदन से भिन्न विद्वान् हैं।

सप्तम वाचस्पति

वाचस्पतियों में सातवीं और अन्तिम संख्या में रुद्रनाथ न्यायवाचस्पति का नाम आता है। इनका निवास स्थान नवद्वीप है। विद्यानिवास भट्टाचार्य के दो पुत्रों में बड़े न्यायवाचस्पति थे और छोटे का नाम विश्वनाथ पंचानन था। **न्यायसूत्रवृत्ति** के अन्त में पंचानन ने इस ग्रंथ का प्रणयन काल **रसबाणतिथौ शकेन्दुकालः** अर्थात् शकाब्द १५५६ (१६३४ ई.) बताया है। इससे इन दोनों का समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

न्यायवाचस्पति दर्शन में न्यायशास्त्र के तो अगाध पण्डित थे। साहित्य में भी इनकी अद्भूत प्रतिभा थी। नीरस तार्किकों में सरसता की प्रमाणता इन्होंने सिद्ध कर दी है। निश्चित ही इनकी बुद्धि विलक्षण थी। साहित्य और दर्शन में इन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। इनकी न्याय-विषयक रचनाएँ हैं – **तत्त्वचिन्तामणि, दीधितिपरीक्षा, किरणावली, प्रकाशविवृत्तिपरीक्षा, पदार्थ खण्डन, व्याख्या** तथा साहित्य-विषयक कृतियाँ हैं – **भ्रमरदूत, वृन्दावन विनोदकाव्य** और **भावविलास** (राजस्तुतिविषयक काव्य)।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि वाचस्पति नाम का क्रम नवीं शताब्दी से सतरहवीं शताब्दी तक चलता रहा। ग्रंथ में प्रारम्भ के चार वाचस्पति निःसन्देह एक में दूसरे का सन्देह पैदा करते हैं। किसी न किसी रूप में इन सबका जन्म स्थान मिथिला ठहर ही जाता है। इसलिए इनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व विवादास्पद था। सबके एक साथ विश्लेषण हो जाने से भामतीकार वाचस्पति अलग हो जाते हैं।

---

१. **बंगाल एशियाटिक सोसायटी** पत्रिका १६१५ ई.

२. श्रीवन्द्यान्वयकैरवामृतरूपोवेदान्तविद्यामयात् – **अद्वैतमकरन्द**/अन्तिम श्लोक

5

वाचस्पति मिश्र के दार्शनिक सिद्धान्त

अनवरत अध्ययन-साधना और निष्ठा से वाचस्पति ने एकान्ततः भारतीय दर्शन की समृद्धि में जीवन और भौतिक सुख का उत्सर्ग कर दिया था। आस्तिक दर्शनों की विवेचना के साथ ही नास्तिक दर्शन पर भी उन्होंने टीका लिखी थी। परन्तु उनके बार्हस्पत्य (चार्वाक) सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि जब वह इन सिद्धान्तों का विश्लेषण करते थे, उस समय उनके पूजागृह में संस्थापित शालिग्राम भगवान् लुप्त हो जाते थे और जब तत्सम्बन्धी लेखन-क्रिया बन्द होती थी तो देवता स्वयं उपस्थित हो जाते थे। कुछ दिन तक यह क्रम चलने के बाद वाचस्पति की दृष्टि अकस्मात् शालिग्राम के खाली सिंहासन पर पड़ी। बहुत चिन्तित होकर अध्ययन के आसन से ही उन्होंने इधर-उधर देखा, परन्तु मूर्ती नहीं थी। बार्हस्पत्य-व्याख्या का लेखन कार्य बन्द कर जब वे सिंहासन के पास खोजने —ढूंढने के लिए गए तो शालिग्राम वहीं थे। उन्हें इस रहस्य का बोध हो गया और तब से उन्होंने चार्वाक्-सिद्धान्त का विवेचन बन्द कर दिया। नास्तिक दर्शनों में पहले चार्वाक् पर ही उन्होंने कार्य शुरू किया था, परन्तु इस तरह की स्थित के प्रकाश में आने के कारण उन्होंने अन्य जैन तथा बौद्ध दर्शनों पर कुछ भी लिखने का प्रयास छोड़ दिया।

आस्तिक दर्शनों में इन्होंने न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा पर ग्रंथ लिखे। न्याय पर इनकी रचना **न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका** है। सांख्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादक इनका ग्रंथ **सांख्यतत्त्वकौमुदी** है जो ईश्वर कृष्ण की **सांख्यकारिका** पर टीका है। पतञ्जलि के योगसूत्र पर इन्होंने **तत्त्ववैशारदी** लिखी है। पूर्व मीमांसा में इनकी पुस्तक **न्यायकणिका** और **तत्त्वबिन्दु** है। दर्शन-विषय इनकी अंतिम कृति **ब्रह्मसूत्र** के शांकरभाष्य पर **भामती** है। यद्यपि वाचस्पति की कृतियाँ प्रायः टीकाएँ हैं, फिर भी इनमें इन्होंने अपने मत को स्वतंत्र रूप से प्रतिपादित किया है। **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका** ही कुछ ऐसा ग्रंथ है जिसमें मूलतः वाचस्पति ने एकमात्र न्यायदर्शन के अस्तित्त्व और सिद्धांत की रक्षा बौद्धों से की है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक टीका में इन्होंने मौलिक विचारों को प्रस्तुत किया है।

सामान्यतः वाचस्पति ने ग्रंथों की टीका में लेखक की मूल भावना को ही सम्पुष्ट किया है। इन सिद्धान्तों से उनकी भी सहमति है, परन्तु जहाँ ग्रंथकार का मत उन्हें पसन्द नहीं आया है, वहाँ उन्होंने स्वतंत्र होकर अपना विचार प्रकट किया है। वैसे ही स्थलों में ध्यान रखकर इस अध्याय में विवेचन प्रस्तुत है। जो सिद्धान्त प्रत्येक दर्शन के निर्विवाद रूप में प्रतिष्ठित है, उनको ज्यों–का–त्यों छोड़ दिया गया है और जहाँ वाचस्पति ने कुछ भी मतभेद प्रकट किया है, उन्हीं का विश्लेषण किया गया है। वही वाचस्पति का अपना दार्शनिक सिद्धान्त है। भारतीय दर्शन के सभी क्षेत्रों में इनका सैद्धान्तिक योगदान महत्त्वपूर्ण है।

प्रमाण-मीमांसा विषयक वाचस्पति का विश्लेषण

प्रमाण ज्ञान का साधन है। बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान एकार्थक है – बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यर्थोन्तरम्।[1] परन्तु व्यापक अर्थ में ज्ञान से यथार्थ–अयथार्थ दोनों का बोध होता है। "स्थाणौ पुरुषभ्रमः समजनि" इस प्रतीति में एक प्रमाता को स्थाणु में पुरुष का ज्ञान होता है तो दूसरे को स्थाणु में तद्वत् ही ज्ञान होता है। इस बोध में ज्ञान की प्रक्रिया समान है, परन्तु एक का ज्ञान अयथार्थ है और दूसरे का यथार्थ। इसलिए ज्ञान का सामान्य अर्थ है वस्तु को प्रकाशित करना। ज्ञान की इसी शक्ति के कारण हम सभी तरह का व्यवहार करते हैं – सर्वव्यवहार हेतुः ज्ञानम्।

ज्ञान की उपर्युक्त परिधि में प्रमात्मक और अप्रमात्मक इसके दो भेद हैं। भारतीय न्यायशास्त्र में इसे और व्यवस्थित ढंग से दो भागों में विभक्त किया गया है – अनुभव और स्मृति। अनुभव भी दो प्रकार के हैं – यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं – यथार्थानुभवः प्रमा।[2] यथार्थ का अर्थ है "तद्भाववति तत्प्रकारकोऽनुभवः जो वस्तु जैसी है ठीक उसी रूप में उसे समझना। यथार्थ अनुभव के विपरीत अयथार्थ अनुभव है जिसमें वस्तु के अभाव वाले अंश का ही ज्ञान होता है – तद्भाववति तत्प्रकारकोऽनुभवः अप्रमा। इसलिए असन्दिग्ध यथार्थ अनुभव की स्थिति में प्रमा और विपरीत में अप्रमा है। अनुभव से भिन्न ज्ञान स्मृति है जो असन्निहित विषयक होती है। किसी वस्तु को देखकर हमारे मन में एक प्रकार का संस्कार बनता है। कालान्तर में उसी संस्कार का उद्बोधन होने से यथार्थ की स्मृति होती है – संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। इसमें वस्तु की अनुभूति वस्तु की अनुपस्थिति में संस्कार द्वारा होती है जबकि अनुभव में वस्तु की उपस्थिती रहती है। स्मृति से अतिरिक्त परन्तु संस्कार से ही उत्पन्न होने वाला एक और ज्ञान है जिसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। सोऽयं देवदत्तः यः काश्यां दृष्टः आसीत् – यह वही देवदत्त है जिसे काशी में देखा था यह प्रतीत प्रत्यभिज्ञा है। संस्कार इस ज्ञान की उत्पति में एकमात्र हेतु है। फिर भी स्मृति से इसमें कुछ भिन्नता है। स्मृति में असन्निहित विषयता की व्याप्ति है। ठीक इससे विपरीत प्रत्यभिज्ञा का विषय सामने उपस्थित रहता है। इस प्रतीति में **सः** पद से पूर्वदेश और पूर्वकाल

के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। **अयम्** पद प्रत्यक्षतः दृश्यमान् देवदत्त का ज्ञान कराता है। इस तरह **सः** पद तत्रा (पूर्वदेश, पूर्वकाल) का और **अयम्** पद इदन्त (एतद् देश, एतद् काल) का ग्रहण करता है। इसलिए तत्रेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा है। इसमें स्मृर्यमाण विषय सन्निहित विषयक होता है।

वाचस्पति आदि सभी आचार्यों ने न्यायसूत्र की मान्यता के अनुसार ही प्रमा के चार प्रकार माने हैं – प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति ओर शाब्द। ये भेद यथार्थ के अनुभव के हैं। अयथार्थ अनुभव के तीन रूप हैं – संशय, भ्रम और तर्क। संशय में अनुभव होता है, परन्तु असन्दिग्धता नहीं रहती। भ्रम में अनुभव और असन्दिग्धता है, परन्तु यथार्थता का अभाव होता है। तर्क से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती बल्कि पूर्वानुभव की पुष्टि होती है। इसीलिए इन्हें अप्रमा के भीतर रखा गया है।

ज्ञान के यथार्थ और अयथार्थ – लम्बी भेद परिधि के बाद भी सैद्धान्तिक रूप से इसका सूक्ष्म विश्लेषण चाहे जितना भी अधिक हुआ हो, व्यवहार रूप में इसकी परख कठिन है। ऐसी स्थिति में प्रभावी बोधकता का साधन ही अव्यावहारिक या अयथार्थ सिद्ध हो सकता है। इसलिए आवश्यक है कि प्रमाण की प्रकृति और शक्ति का ही परीक्षण पहले हो। नैयायिकों ने प्रमाण से उपलब्ध ज्ञान की सत्यता और असत्यता का समाधान व्यावहारिक सफलता और असफलता से किया है। जिस ज्ञान से व्यावहारिक सफलता हो वह सत्य है और व्यावहारिक असफलता वाला ज्ञान असत्य है। रज्जु अगर रज्ज्वात्मना कार्य सम्पादन में व्यावहारिक रूप से समर्थ है तो रज्जुत्व का ज्ञान सत्य है किन्तु रज्जु में सर्प का ज्ञान लेकर दण्डप्रहार या पलायन सर्पत्व बोध के कारण अव्यावहारिक है। अतः असत्य है। परिणामतः यथार्थ ज्ञान में प्रकृति सामर्थ्य और प्रवृत्ति विसम्वाद द्वारा यथाक्रम ज्ञान की सत्यता और असत्यता की परीक्षा की जाती है –

प्रामाण्यं हि तमर्थप्रवृत्तिजनकत्वादनुमेयम्।[3]

तात्पर्य परिशुद्धि की इस उक्ति से प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र के मत में ज्ञान और प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्री पृथक्-पृथक् सत्तावान् है। अनुव्यवसाय ज्ञान की ग्राहक सामग्री है। प्रामाण्य या अप्रामाण्य की ग्राहक सामग्री अनुमान है जो प्रवृत्ति साफल्य या प्रवृत्ति वैफल्यमूलक है। प्रथमतः प्रमाण से घट पट रूप अर्थ का ज्ञान होता है। इस ग्राहकता के अनन्तर ग्रहण के लिए मनुष्य् प्रवृत होता है। प्रवृत्ति वहाँ अगर सफल हो गई तो अर्थ की उपलब्धि होती है और मनुष्य अपने ज्ञान को यथार्थ समझता है। विफलता की स्थिति में ज्ञान को अयथार्थ या भ्रम समझा जाता है। भ्रम भी इसी की संज्ञा है। प्रामाण्य या अप्रामाण्य की इस निश्चय प्रक्रिया को "अभ्यास दशक" कहा जाता है।[4] यहाँ अनुमान का रूप इदं में जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् ऐसा होता है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी ज्ञान का ग्रहण "अनुव्यवसाय" से माना है। ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय कहलाता है। 'अयं घटः' यह घट से उत्पन्न ज्ञान है। इस का विषय घट है। प्रथम कोटि का यह ज्ञान "व्यवसायात्मक" ज्ञान है। इसके बाद "घटज्ञानवान् अहम्" या घटमहं जानामि प्रकारक ज्ञान होता है। इस द्वितीय कोटिक ज्ञान का विषय घट नहीं होकर "घट ज्ञान" होता है। इसी अनुव्यवसाय से ज्ञान का ग्रहण होता है। मीमांसक इस ज्ञान के पहलू में "ज्ञातता" धर्म को स्वीकार करता है। अयं घटः इस ज्ञान में घट में "ज्ञातता" नामक एक धर्म उत्पन्न होता है। यह धर्म "अयं घटः" ज्ञान के पहले नहीं था। इसलिए इसका उत्पादक अयं घटः ज्ञान ही कारण है। ज्ञातता धर्म से 'ज्ञातो मया घटः' यह ज्ञान होता है। परन्तु वाचस्पति मिश्र ने ज्ञातता का खण्डन किया है। उनके मत में मीमांसक अयं घटः से घट में ज्ञातता की उत्पत्ति के आधार पर जो विषय नियम का प्रतिपादन करते हैं, वह उचित नहीं है, क्योंकि यह विषय नियम स्वाभाविक है। ज्ञातता की कल्पना यहाँ निरर्थक है। न्याय-मीमांसा की इस ज्ञान-प्रक्रिया में मौलिक अन्तर यही है कि मीमांसक की "ज्ञातता" घट में रहने वाला धर्म है और नैयायिक का "अनुव्यवसाय" घट में न रहकर आत्मा में रहने वाला धर्म है। इसलिए न्याय दर्शन की दिशा में ज्ञान का ग्रहण सर्वत्र मानस व्यापार रूप में होता है।

यथार्थ ज्ञान का साधन प्रमाण है। प्रमायाः करणम् की व्युत्पत्ति से प्रमाणता प्रकृष्ट अनुभव विषयक कराता है। अतः यथार्थ अनुभव का करणत्व ही प्रमाण का सामान्य लक्षण है। इसी आधार पर स्मृति का प्रमाणत्व स्थापित नहीं होता क्योंकि वह स्मृत विषय पूर्वानुभूति का ही परिणाम है। किसी भी प्रमाण से उत्पन्न पूर्वानुभूति के बिना बाद में किसी भी विषय में स्मृति नहीं हो सकती।

कुमारिल भट्ट उनके अनुयायी तथा बौद्धों में दिङ्नाग आदि ने अनधिगत अर्थ के ज्ञापक को प्रमाण कहा है परन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि एक ही घट में निरन्तर कई क्षण तक 'घटोयम्' 'घटोयम्' – इस प्रकार ज्ञात घट का ज्ञान कराने वाली धारावाहिक द्वितीय आदि बुद्धियों से गृहीत का ग्रहण होने लगेगा और वैसी स्थिति में 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इस लक्षण में प्रमाणता नहीं रह सकेगी। यदि इसका परिहार यह हो कि अलग-अलग क्षण विशिष्ट घट का ग्रहण होने से द्वितीय आदि ज्ञान में भी अनधिगतार्थगन्तृता है तो यह तो सर्वथा असम्भव है, क्योंकि प्रत्यक्ष से सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण नहीं हो सकेगा। एक क्रिया का जब दूसरी क्रिया से संयोग होता है तो वहाँ चार प्रकार के व्यापार होते हैं – क्रिया, क्रिया से विभाग, विभाग से पूर्व संयोग का नाश और उत्तर देश संयोग की उत्पत्ति। परन्तु ये चारों व्यापारों में यौगपद्य की ही प्रतीति होती है, चूँकि ये कार्य अत्यन्त शीघ्रता से होते हैं। परिणामतः सूक्ष्मकाल भेद का प्रत्यक्ष से ग्रहण सम्भव नहीं हो सकता। धारावाहिक बुद्धि स्थल

में क्षण-विशिष्ट घट का ग्रहण नहीं माना जा सकता और तब तो द्वितीयादि ज्ञानों के गृहीत-ग्राही होने से प्रमाणता का अनधिगतार्थगन्तृता लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित होता है।[५]

न्याय-वैशेषिक आदि में प्रमाण के लक्षण में अनधिगतत्व का कोई उल्लेख नहीं है। इनके सिद्धान्त में अधिगत विषयक ज्ञान भी प्रमाण ही है। **न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका** में वाचस्पति मिश्र ने धारावाहिक ज्ञान को अधिगतार्थ विषयक कहकर भी प्रमाण माना है —[६]

अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकविज्ञानानाम् अधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणाभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे। न च कालभेदेन अधिगतगोचरत्वं धारावाहिकानामिति युक्तम्। परमसूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां पिशितलोचनैः अनाकलनात्। न च आद्येनैव विज्ञानेन उपचरितित्वादर्थस्य प्रवर्तितत्वात् पुरुषस्य, प्रापित्वाच्च उत्तरेषाम् अप्रामाण्यमेव ज्ञानानामिति वाच्यम्।

न हि विज्ञानस्य अर्थप्रापणं प्रवर्तनात् अन्यत् न प्रवर्तनम् अर्थ.प्रदर्शनात् अन्यत्। तस्मात् अर्थप्रदर्शनमात्र व्यापारमेव ज्ञानप्रवर्तकं प्रायकं च। प्रदर्शनं च पूर्ववत् उत्तरेषामपि विज्ञानानाम् अभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि।

पदार्थ या तत्त्व की प्रामाणिकता के लिए वाचस्पति ने प्रमाण की अवश्यम्भाविता स्वीकार की है — "तमिम् अर्थं प्रामाणिकं कर्तुमभिमताः प्रमाणभेदाः लक्षणीयाः"[७] ज्ञान, उपादान और उपेक्षा बुद्धियाँ प्रमाण के फल हैं। जिस बुद्धि के द्वारा त्याग करके लाभ होता है, वह धन बुद्धि है। उपादान या ग्रहण करने वाली बुद्धि का नाम उपादान बुद्धि है। जिस बुद्धि से उपेक्षा होती है वह उपेक्षा बुद्धि कहलाती है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञानोत्पत्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण प्रमाण है। इसका परिणाम अव्याहृत रूप से ज्ञान की उत्पत्ति है।

आचार्य वाचस्पति ने प्रमाण की संख्या में मतभेद रखा है। **सांख्यतत्त्वकौमुदी** में महर्षि कपिल के द्वारा स्वीकृत तीन प्रमाणों को ही उन्होंने ग्रहण किया है — "दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्।"[८] इसके अतिरिक्त ऋषियों को त्रिकाल विषयक विद्या-तप समाधि से होने वाला प्रतिभा प्रमाण भी ज्ञान होता है। अतः वह भी चौथा अलौकिक प्रमाण हो सकता है। परन्तु वाचस्पति ने इसका खण्डन किया है और प्रमाणों की विविधता का निर्धारण लौकिक प्रमाणों की दृष्टि से किया है, योगियों की दृष्टि से नहीं। उनका ज्ञान अलौकिक है। साधारण लोगों को प्रत्यक्ष-अनुमान और शब्द — इन्हीं तीन प्रमाणों में अधिकार है और सांख्य दर्शन का प्रयोजन जन-साधारण को बोध कराना है। आर्ष विज्ञान के अधिकारी ऊर्ध्वस्रोतस योगी लोग हैं, जिनकी चित्तवृत्ति का प्रवाह विषयों से परे अतीन्द्रिय परम तत्त्व की ओर बहता रहता है। इसका उपयोग लोक में नहीं है। दूसरी बात है कि यह ऋतम्भरा

प्रज्ञा है जो योगज प्रत्यक्ष ही है। इसलिए इसे प्रत्यक्ष से पृथक् नहीं मानकर उसके अन्तर्गत ही गृहीत कर लिया जाता है –

एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायम्, लोकव्युत्पादनार्थत्वाच्छास्त्रस्य, तस्यैवात्र अधिकारात्। आर्षं तु विज्ञानं योगिनामूर्ध्वस्रोतसां न लोकव्युत्पादनायालमिति सदपि नाभिहितम् अनधिकारात्।

–सांख्यकारिका, ४ पर **तत्त्वकौमुदी**

प्रमाण की संख्या पर विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए वाचस्पति स्पष्टतः तीन ही प्रमाण का उल्लेख करते हैं। न अधिक न कम –तिस्त्रो विद्या यस्य प्रमाणासामान्यस्य तत् त्रिविधम्। न न्यूनम् नाप्याधिकमित्यर्थः। प्रमाण की तीन संख्या से कम माननेवालों का वाचिक के एक प्रत्यक्ष पक्ष की मान्यता समाप्त हो जाती हैं प्रमाण के दो भेद स्वीकार करने वालों में वैशेषिक और माध्वदर्शन आते हैं। कणाद ने सिर्फ प्रत्यक्ष और अनुमान में ही प्रमाणता स्वीकार की है। शब्द और उपमान इनकी दृष्टि में प्रमाणत्व नहीं रखते। इनका कथन है कि शब्द में प्रमाणता ईश्वर या महर्षि आदि से उच्चरित होने पर ही है, उन्मत्त प्रलाप में नहीं। अतएव प्रमाणभूत पुरुष से प्रोक्त होने के कारण ही शब्द में प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। इसलिए अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत शब्द में ही प्रामाण्य ज्ञान होने से अनुमान से भिन्न शब्द को प्रमाण नहीं माना जाता। कारिकावली में विश्वनाथ भट्ट ने कहा भी है –

शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते।
अनुमानगतार्थत्वदिति वैशेषिकं मतम्।।

माध्वमत में भी दो ही प्रमाण माना जाता है – प्रत्यक्ष और शब्द। इन का कहना है कि यद्यपि अनुमान प्रमाण है फिर भी वह श्रुति से बोधित अर्थ का ही प्रतिपादक है। अतः उसमें स्वतंत्र प्रमाणता का अभाव है। श्रुति की सहायता के बिना परमात्मा आदि अलौकिक पदार्थ की सिद्धि में कोई उपाय नहीं है। स्वतंत्र रूप से अनुमान किसी भी निश्चित अर्थ का साधन नहीं कर सकता। इसी कारण अनुमान को प्रमाणान्तर की कोटि में नहीं रखा जाता। वाचस्पति मिश्र ने तीन से कम प्रमाण मानने वाले दार्शनिकों के मत का निरास 'न न्यूनम्' कह कर किया है।

प्रमाण के तीन से अधिक भेद मानने वालों में न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं जिन्होंने चार प्रमाण प्रतिपादित किए हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। उक्त चार प्रमाण और अर्थापत्ति मिलाकर पाँच प्रमाण मीमांसक विशेष प्रभाकर स्वीकार करते हैं। कुमारिल भट्ट ने अनुपलब्धि को लेकर छः प्रमाण माने हैं। अद्वैत वेदान्त में भी इन्हीं छः प्रमाणों को माना गया है – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। पौराणिक लोक सम्भव और ऐतिह्य को लेकर आठ प्रमाण मानते

हैं। तन्त्रदर्शन में चेष्टा को भी प्रमाण माना गया है और इस तरह प्रमाणों की संख्या नव तक हो जाती है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'नाप्यधिकम्' कहकर तीन से अधिक प्रमाण की संख्या को खण्डित कर दिया है।

महर्षि कपिल द्वारा प्रतिपादित तीन प्रमाणों, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द का ही समर्थन वाचस्पति ने किया है। इनके प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में वैशषिक आदि से वैशिष्ट्य है। इनका कहना है कि बुद्धि तत्त्व में सकल पदार्थों के ग्रहण करने की शक्ति रहने पर भी तमोगुण से प्रतिबद्ध होने के कारण वह स्वयं स्वतन्त्र रूप से विषय के समीप नहीं पहुँच पाता।[९] विषय का अर्थ स्थूल और सूक्ष्म (भूत और तन्मात्रा) दोनों विषयों से है। किन्तु जब इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष द्वारा तम को हटा दिया जाता है तब इन्द्रिय के माध्यम से विषय के समीप पहुँचकर उसी के आकार में परिणत हो जाता है। बुद्धि तत्त्व का विषयाकार यही परिणाम अध्यवसाय, वृत्ति, ज्ञान या प्रमाण है।[१०] साथ ही वृत्ति ज्ञान का फल प्रमा है। इसका अनुभावक चेतन है। अचेतन बुद्धि का अध्यवसाय भी अचेतन ही है और 'अहं सुखी' – इस अनुभव का सम्बन्ध भी चेतन में रहता है। इसलिए ऐसी कल्पना की जाती है कि विषय के आकार को प्राप्त हुई बुद्धि अपने को अपने में प्रतिबिंबित करते हुए चेतन के लिए समर्पित करती है। उसी से प्रमा रूप फल उत्पन्न होता है। पुरुष तो वास्तव में अपरिणामी असंग, अकर्त्ता है, फिर भी वह परिणामी चित्त में प्रतिबिंबित होकर कर्तृत्व और भोक्तृत्व को प्राप्त करता है।[११]

सांख्य मत में करणों की संख्या तेरह है जिनमें तीन (बुद्धि, अहंकार और मन) अन्तःकरण है और दस (पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय) बाह्यकरण हैं। बुद्धि, अहंकार और मन विषयों को धारण करते हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाश करती हैं और कर्मेन्द्रियाँ आहरण करती हैं।

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधा हार्यं धार्यं प्रकाश्यं च।।

सांख्यकारिका, ३२

बाह्यकरण वर्तमान मात्र को विषय करता है जबकि आभ्यन्तरकरण त्रैकालिक विषयों के ग्रहण में समर्थ है। इनमें तीन अन्तःकरण को द्वारि तथा इन्द्रियों को द्वार कहा गया है जिनसे होकर अहंकार तथा मन के साथ बुद्धि विषय के ज्ञान के लिए बाहर जाती है। वाचस्पति ने **तत्त्वकौमुदी** में कहा भी है – सान्तःकरण इति। द्वारि प्रधानम्। शेषाणि करणानि बाह्येन्द्रियप्रधानम्। शोषाणि करणानि बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि। तैरुपनीतं सर्वं विषयं समनोहंकारा बुद्धिः यस्मादवगाहते अध्यवस्यति, तस्माद् बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि, द्वारवती च सान्तःकरण बुद्धिरिति।

–**तत्त्वकौमुदी**, पृ. २१३

अपर्युक्त दस बाह्यकरणों की अपेक्षा तीन अन्तःकरण प्रधान है। इन तीन में भी बुद्धि की प्रधानता है। वास्तविकता तो यह है कि सभी कार्य बुद्धि ही करती है, करण उसके सहायक हैं।

यह रूप (नील) है, – इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए चित् में प्रतिबिंबित बुद्धि प्रथमतः अहंकार से संयुक्त होती है। तत्पश्चात् मन को साथ लेकर चक्षु के द्वार से वह बाहर आती है और रूप के साथ सम्पर्क में आकर चित्त (बुद्धि) रूप वाली वस्तु के आकार की हो जाती है। 'तदाकाराकारिता' चित्तवृति होते ही चित्त में प्रतिबिंबित चित् (पुरुष) में भी उस विषय का आरोप हो जाता है। वस्तु के आकार में चित्त का आ जाना ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस समय सत्वगुण का उभार होने से तमोभिभव हो जाता है और इस तरह चक्षुरादि इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा तमोगुण के अभिभव के समकाल में होने वाले सत्वगुण के समुद्रेक के कारण बुद्धि विषयाकार में परिणमित हो जाती है। यही वाचस्पति की दृष्टि में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

त्रिविध प्रमाणों में प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का वर्णन है। वाचस्पति की दृष्टि में अज्ञान, संशय और भ्रम के ज्ञान के लिए अनुमान की आवश्यकता है – अज्ञानादयः परपुरुषवर्तिनोऽभिप्रायभेदाद् वा लिङ्गादनुमातव्याः (**तत्त्वकौमुदी**, पृ. ५२)। इसको अस्वीकार करने पर अज्ञानी, संशयी तथा भ्रान्त-पुरुष को नहीं पहचाना जा सकता। **तत्त्वकौमुदी** के अनुसार अनुमान की सत्ता को स्वीकार करना चार्वाक् के लिए भी अपरिहार्य है। अगर चार्वाक् कहता है कि अनुमान नहीं है तो उसकी यह उक्ति अनुमान प्रमाण को मानने वाले व्यक्ति के एतद् विषयक भ्रम अथवा सन्देह को मिटाने के लिए ही है। परन्तु पर व्यक्तिगत अज्ञान, सन्देह या भ्रम को चार्वाक् का समझना उचित नहीं प्रतीत होता है। इसके उत्तर मे यदि यह तर्क हो कि इसके वचनों से यह प्रतीत होता है कि अमुक व्यक्ति अज्ञान, सन्देह या विपर्यय में है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि शब्द-विशेष अथवा वचन-भेद से जो दूसरे व्यक्ति के अज्ञानादि का ज्ञान है, उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। उसे जानने के लिए वचन-भेद-रूप-लिंग के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है और यही ज्ञान लैंगिक अथवा अनुमान है। इसलिए परपुरुषगत अज्ञान सन्देह और भ्रम के ग्रहण के लिए अनुमान ही एकमात्र आधार है।[१२]

अनुमिति ज्ञान का कारण अनुमान है। अनुमान का लक्षण करते हुए ईश्वर कृष्ण ने कहा है – "तत् लिंगलिंगिपूर्वकम्।" लिंग शब्द की व्युत्पत्ति है – लीनमर्थं गमयति अर्थात् जो लीन परोक्ष अर्थ का ज्ञान कराये। तर्कभाषा में लिंग का लक्षण बताते हुए केशव मिश्र ने कहा है – व्याप्तिवलेन अर्थगमकं लिंगम्। व्याप्ति के सामर्थ्य से अर्थ का ज्ञापक लिंग है। लिंग को हेतु भी कहा जाता है। यह व्याप्य होता है – लिंगम् व्याप्यम्। लिंगि का अर्थ व्यापक होता है। जो वस्तु जिस वस्तु के बिना नहीं रह सके,

वह वस्तु उसकी व्याप्य कहलाती है और जिस वह्नि आदि के साथ अविनाभूत रूप से सम्बद्ध धूम आदि हो उस वह्नि आदि को व्यापक कहते हैं। इस तरह धूम आदि व्याप्य है और वह्नि आदि व्यापक है। धूम और वह्नि में जो व्याप्य-व्यापक भाव का करण है वह अनुमान है और जो ज्ञान होता है, वह अनुमिति है। यह व्याप्य और व्यापक की व्याप्ति से निश्चित होती है। साहचर्य-नियम को व्याप्ति कहते हैं। साहचर्य का अर्थ साथ-साथ रहना है। जैसे – जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, यही साहचर्य-नियम या व्याप्ति है। इसे अविनाभाव सम्बन्ध कहा जा सकता है।

अनुमान के भेद के विषय में सामान्यतः दो मत सामने आते हैं (क) अनुमान के दो भेद मानने की परम्परा और (ख) अनुमान के तीन भेद मानने की परम्परा। प्रथम कोटि में वैशषिक और पूर्वमीमांसा की और दूसरी कोटि में सांख्य और न्याय की गणना होती है। शांकरभाष्य में अनुमान के दो भेद बतलाए गए हैं – प्रत्यक्षतोदृष्ट और सामान्यतोदृष्ट।[१३] कणाद भी लगभग इन्हीं नामों से दो भेद करते हैं – दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट।[१४] न्याय और सांख्य में अनुमान के तीन भेद माने गए हैं। न्यायसूत्र में अनुमान का लक्षण और भेद करते हुए गौतम ने लिखा है –

अथ तत्त्वपूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च।

न्यायसूत्र – १/१/१५

सांख्य में भी तीन प्रकार के अनुमान माने गए हैं – **सांख्यकारिका**–५। सूत्रकार गौतम और कारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने एक स्वर से तीन अनुमान के भेद माने हैं। **सांख्यकारिका** के अनुमान लक्षण पर माठरवृत्ति में स्पष्टतः न्याय सूत्रकार की ही तरह प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान को स्वीकार किया है – प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।[१५] इस प्रकार अनुमान के दो भेद और तीन भेद सामने आते हैं। वाचस्पति मिश्र ने इन दोनों परम्पराओं का समन्वय करना चाहा है। **तत्त्वकौमुदी** में उन्होंने वैशेषिक और मीमांसा के अनुामन की परम्परा में ही दो भेद बतलाए हैं। वीत और अवीत। अन्वय मुख से प्रवर्तमान विधायक अनुमान को 'वीत' कहते हैं – अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम् (**तत्त्वकौमुदी** – पृ.–५६)" 'वीत' का अर्थ है – विशेषणं इतं, इति प्रसिद्धम, अन्वयवाप्तिहेतुरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्। यही 'अवीत' न्यायशास्त्र में निर्दिष्ट 'शेषवत्' अनुमान है। **तत्त्वकौमुदी** में वाचस्पति ने कहा भी है – "तत्र अवीतं शेषवत्। शिष्यते, परिशिष्यते इति शेषः स एव विषयतया यस्य अस्यनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत्।"

'वीत' अनुमान के दो भेद हैं – पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। इसमें पूर्ववत् अनुमान दृष्टस्वलक्षण सामान्यविषयक होता है – पूर्ववत्, पूर्वप्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणं सामान्यमिति। उदाहरणार्थं– धूमात् वह्नित्वसामान्यविशेषः। पर्वतो वह्निमान् धूमात्

यहाँ 'धूम' हेतु से पर्वत के ऊपर वह्निनत्व सामान्यविशेष का अनुमान होता है, जो द्रव्यत्व जातिमूलक सामान्य विशेषोमय रूप है। अगर इसका अर्थ वह्नित्व सामान्य रूप जाति का विशेष वह्निव्यक्ति अर्थ किया जाए तो अव्याप्ति दोष होगा और व्यक्ति विशेष की अनुमिति होगा क्योंकि सत्ताजाति केवल सामान्य रूप है, किन्तु द्रव्यत्व सामान्यविशेषोभयात्मक है। इसलिए यहाँ वह्निविशेष का अर्थ है पाकशाला में दृष्ट वह्नित्वावच्छिन्न महानसीय वह्निव्यक्ति विशेष। इस विशेष अग्नि से अग्निसामान्य की धारणा होती है, और पहले पाकशाला में जिस धूम और वह्नि का दर्शन करने से धूम में वह्नि के व्याप्ति सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है, बाद में पर्वत में तज्जातीय धूम को देखने से ही तज्जातीय वह्नि की अनुमिति होती है। इसलिए जिस पदार्थ में जिसके व्याप्ति-सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है।, तज्जातीय उस व्याप्य पदार्थ को अन्यत्र प्रत्यक्ष करके वहाँ तज्जातीय उस व्यापक पदार्थ की अनुमिति होने पर उस अनुमान प्रमाण को 'पूर्ववत्' कहा गया है।

सामान्यतोदृष्ट 'वीत' अनुमान का दूसरा भेद है। **तत्त्वकौमुदी** में इसका लक्षण – "अदृष्टस्वलक्षणस्य सामान्यविशेषस्य दर्शनम् सामान्यतोदृष्टमनुमानम्" किया गया है। अप्रत्यक्ष वस्तु की सजातीय वस्तु को जिसमें साध्य बनाया जाता है, वैसे स्थल में 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान होता है। यह पूर्ववत् अनुमान के विपरीत है, क्योंकि पूर्ववत् अनुमान के स्थान में पहले किसी स्थान में हेतु और साध्यधर्म के व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है। सामान्यतोदृष्ट में ऐसी प्रक्रिया नहीं होती। इसीलिए पं. मुसलगांवकर ने कहा है – यज्जातीयं साध्यं व्याप्तिज्ञानविषयः तज्जातीय भिन्नविषयकानुमितिः।" जैसे –' रूपादिज्ञानानि करणवन्ति क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्। इस इन्द्रिय साधक अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं। वात्स्यायन ने इच्छा आदि गुण से आत्मा के अनुमान को इसका उदाहरण बतलाया है। **तात्पर्यटीका** में वाचस्पति ने कहा है कि इच्छा आदि गुण परतन्त्र है, यही सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सिद्ध होता हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सामान्यदर्शन में समान्यतोदृष्ट अनुमान होता है और विशेष दर्शन में पूर्ववत्। सामान्यतः में षष्ठ्यन्त से तसिल् प्रत्यय होने के कारण इसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है – सामान्यस्य दर्शनम्, सामान्यतोदृष्टमनुमानम्।

सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति ने 'अवीत' को 'शेषवत्' अनुमान कहा है – "तत्रावीतं शेषवत्। शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः। स एक विषयतया यस्य अस्ति अनुमान ज्ञानस्य तच्छेषत्[16] न्यायभाष्यकार ने इसे 'परिशेष' अनुमान कहा है – प्रसक्त-प्रतिषेधे अन्यत्र अप्रसंगात् शिष्याणि सम्प्रत्यक्षः परिशेष इति।[17] शेषवत् अनुमान से शेष पदार्थ विषयक अनुमिति होती है। इच्छा आदि गुण की परतन्त्रता सिद्ध हो जाने पर शेषवत् अनुमान से उनका आत्माश्रितत्व सिद्ध होता है, यथा इच्छा आदि

देह के गुण नहीं हैं और ऐन्द्रियाश्रित ही हैं। अन्त में वे देह आदि से भिन्न किसी द्रव्य में ही हैं – इस शेषवत् अनुमान से वे द्रव्य के ही गुण हैं ऐसी अनुमिति होती है। अवान्तर काल में इसी अनुमान को 'व्यतिरेकी' और 'केवल व्यतिरेकी' कहा गया है क्योंकि व्यतिरेक मुख से प्रवर्तमान निषेधक अनुमान ही 'अवीत' है।

तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति ने अनुमान और शब्द प्रमाण में उपजीव्य-उपजीवक भाव संबंध माना है। शब्द के अन्तर्गत निहित शक्ति का बोध अनुमान से ही होता है और उस शक्तिज्ञान से शाब्दबोध होता है। उनका कहना है कि पिता (प्रयोजक वृद्ध) की बात सुनकर पुत्र (प्रयोज्यवृद्ध) की प्रवृत्ति होती है। प्रयोजक वृद्ध की 'गामानय' की उक्ति के सुनने के बाद प्रयोज्य वृद्ध पूँछ, गलकंबल, दूध देने वाली आदि लक्षणों से युक्त एक व्यक्ति को लाता है। समीप में ही बैठा एक बाल, जिसने अभी गाय को नहीं पहचाना है पिता के आदेश पर पुत्र से गाय के आनयन को देखकर अनुमान करता है – प्रयोज्यवृद्ध की गवानयन प्रवृत्ति गवानयनविषक ज्ञान से जन्य है, गवानयन विषयक प्रवृत्ति के कारण स्वीय स्तन्यपान प्रवृत्ति के समान। इस अनुमान से उस बालक को प्रयोज्यवृद्ध गवानयन विषयक ज्ञान की अनुमिति हो जाती है। जिसका आधार पद-पदार्थ सम्बन्ध का ज्ञान है। इस समय वह पुनः अनुमान करता है – यह गवानयन विषयक ज्ञान पिता द्वारा प्रयुक्त वाक्य जन्य है, अन्वय-व्यतिरेक से विधायक होने के कारण अन्वय व्यतिरेक से विधायक दण्ड द्वारा घर की तरह। अन्वय का प्रकार है – वाक्य सुनने पर गवानयन प्रवृतिजनकज्ञान (तत् सत्वे तत् सत्त्वम्) और व्यतिरेक का प्रकार है – वाक्य श्रवण के अभाव में गवानयन प्रवृत्ति जनक ज्ञानाभाव (तदभावे तदभावः)। इस प्रकार उपर्युक्त अनुमान से शब्द और अर्थ और अनुमान का सम्बन्ध निश्चित करते हुए वह निश्चित करता है कि गाम् आनय का अर्थ सास्ना आदि से युक्त व्यक्ति का लाना है। पुनः जब इसी क्रम में दूसरा वाक्य सुनता है कि 'गाम् बधान' 'अश्वमानय' तो वह लाये हुए गो व्यक्ति को रस्सी से खूंटे में बाँधकर दूसरे अश्व व्यक्ति को लाता है तो समीपस्थ देखने वाला बालक 'आनय' और 'बधान' क्रिया के सम्पादन में अंतर देखता है। अब वह अनुमान से ही निश्चित करता है कि गाम् का अर्थ गाय है, आनय का अर्थ लाओ है और 'बधान' का अर्थ रस्सी-खूँटी संयोगानुकूल व्यापार में है। इसलिए शाब्दबोध के मूल में न अनुमान की अवश्यम्भाविता सिद्ध है और वाक्यजनित वाक्याज्ञान में शब्द की प्रमाणता है। शब्द प्रमाण से उत्पन्न हाने वाला आप्तवचनजन्य ज्ञान ही शाब्दबोध है।[१८]

आचार्य मिश्र के मत में वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान दो प्रकार का है – स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य। स्वतः प्रामाण्य में अपने अर्थ के बोधन के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती और परतः प्रामाण्य में अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखकर स्वार्थ बोधन की सामर्थ्य होती है। अपौरुषेय वेदवाक्य से उत्पन्न अर्थ ज्ञान का स्वतः

प्रामाण्य है औरं आम्नाय रूप मूल प्रमाण की अपेक्षा रखने वाले स्मृति आदि के वाक्य से जन्य ज्ञान परतः प्रमाण है। सांख्यसूत्र में आगमप्रमाण को स्वतः प्रमाण बताया गया है।[१६]

दर्शन की प्रक्रिया में स्वीकृत उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और संभव का अन्तर्भाव इन्हीं तीन प्रमाणों में वाचस्पति ने किया है। ऐतिह्य को वे प्रमाण नहीं मानते हैं। उपमान का अन्तर्भाव शब्द और अनुमान में हो जाता है। प्रसिद्ध गौ के साधर्म्य से अप्रसिद्ध "गवय" का बोध होता है। परन्तु यह वाक्य ही है और स्पष्टतः शब्द प्रमाण है। गवय को नहीं जानने वाला व्यक्ति 'गोसदृशः गवयः' इस आप्त वाक्य को सुनकर जंगल में गाय के सदृश एक व्यक्ति को देखता है जिसका उसे श्रावण प्रत्यक्ष हुआ था। अभी वह उस अर्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष कर रहा है। बीच में अवशिष्ट सादृश्यज्ञान को वह अनुमान से ही निश्चित कर पाता है। अतएव उपमान शब्द और अनुमान में ही अन्तर्भूत है।

भाट्ट और वेदान्तियों के अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है। मीमांसक जीवित चैत्र को घर में नहीं देखते और बाहर भी नहीं पाते तो कल्पना करते हैं कि बाहर होगा। इस प्रकार चैत्र का गृह में अभाव अर्थापत्ति प्रमाण है और बहिर्भाव की कल्पना अर्थापत्ति प्रमा है – अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकी भूतार्थान्तरकल्पना अर्थापत्तिः। यहाँ अनुमान से बहिर्भावता का ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि इस तरह का वाक्य किसी आप्त ने कहा नहीं है। इसलिए अर्थापत्ति एक अन्य प्रमाण सिद्ध है। वाचस्पति ने इसे अनुमान के भीतर ही सिद्ध किया है जिसका स्वरूप इस प्रकार होता है – जीवित चैत्र तब बाहर ही है, क्योंकि जीवित रहने पर भी वह अपने घर में अवर्तमान रहता है, स्वशरीरवत्। इस प्रकार जीवित-चैत्र की गृहाभाव रूप कारणता से बहिरस्तिता का दर्शन अनुमान से होता है। इसी को अन्य अर्थापत्ति कहते हैं, परन्तु इसका पृथक्त्व उचित नहीं है।

भाट्टमीमांसक और वेदान्ती अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण का फल बताते हैं। उनका कहना है कि 'यदि घट यहाँ रहता तो उपलब्ध होता। उपलब्ध नहीं हो रहा है, इसलिए वह नहीं है – "यदि अत्र घटः स्यात् तदा उपलभ्यते। यतः न उपलभ्यते अतः नास्ति अत्र घटः।" इस तरह प्रत्यक्ष योग्य घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्ध प्रमाण से होता है। वाचस्पति ने इसका खण्डन करते हुए कहा है –"नहि भूतलस्य परिणामविशेषात् अन्यो घटाभावो नाम।"[२०] भूतल के परिणाम विशेष से अन्य घटाभाव नामक कोई पदार्थ नहीं बल्कि भूतल स्वरूप ही है। घट का अभाव भूतल का घटरहितत्वरूप परिणाम विशेष ही है जो इन्द्रियग्राह्य है। इसके लिए पृथक् से इन्द्रियसन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है – "सच परिणाम भेद ऐन्द्रियक इति नास्ति प्रत्यक्षावरुद्धो विषयो यत्र अभावाह्वयं प्रमाणान्तरम् अभ्युपेयेतेति" **(तत्त्वकौमुदी** – पृ. ७४)

संभव की प्रमाणता पौराणिक मानते हैं। जिस व्याप्ति वाले (अविनाभाविक) एक पदार्थ की सत्ता के ज्ञान से दूसरे पदार्थ की सत्ता का ज्ञान होता है वही सम्भव प्रमाण है – सम्भवो नाम अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणात् अन्यस्य सत्ताग्रहणम्।[२१] इसमें व्याप्य पदार्थ की सत्ता के ज्ञान से व्यापक की सत्ता का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, द्रोण रूप तौल के ज्ञान से उस प्रमाण के साथ अन्य रहने वाले आढ़क-रूप परिणाम का ज्ञान होता है तथा आढ़क-ज्ञान परिणाम का ज्ञान होने से प्रस्थ परिणाम का ज्ञान होता है। **तत्त्वकौमुदी** में प्रतिपादित सांख्यसिद्धान्त के अनुसार पौराणिकों के सम्भव प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में ही होता है। वाचस्पति ने कहा भी है सम्भवस्तु यथाखार्यां द्रोणादिसत्वम् अवगमयति (**सांख्यतत्त्वकौमुदी** – पृ. ७६) द्रोण आदि के साहित्य में न होने वाली, उनसे व्याप्त खारी अपने में द्रोण 'आढ़क' प्रस्थ आदि अल्प तौल की सत्ता का अनुमान ठीक उसी प्रकार कराती है जिस प्रकार आग से व्याप्य धूम ही व्यापक अग्नि की सत्ता का अनुमान करता है। फ़लतः सम्भव को पृथक् प्रमाण न मानकर अनुमान में ही अन्तर्भूत कर लेना पड़ेगा।

ऐतिहासिक ऐतिह्य नामक एक अन्य प्रमाण मानते हैं। वह प्रवाद जिसमें वक्ता का नाम अनिर्दिष्ट है फिर भी वह परम्परा से चला आ रहा है "ऐतिह्य" है।[२२] जैसे – इह वटे यक्षः प्रतिवसति (इस बरगद पेड़ पर यक्ष रहता है।) इस तरह पहले किसी ने कहा होगा, फिर भी उसका नाम कहे बिना केवल वृद्धजन ऐसा कहा करते हैं – एवम्प्रकारेण प्रवाद-परंपरा ही ऐतिह्य प्रमाण है। इसके मूल वक्ता का कोई पता नहीं होता। ऐसी स्थिति में ऐतिह्य वाक्य की आप्तता में संशय हो जाता है। परिणामतः इस वाक्य से जन्य ज्ञान भी संशयास्पदता को धारण करता है और तब इसकी प्रमाणता खंडित हो जाती हे। यदि प्रवाद रूप में प्रचलित इस एतिह्य के वक्ता में आप्तत्व का निश्चय हो जाता है, तब इसे शब्द प्रमाण में तो अन्तर्भूत देखा जाता है –

यच्च अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारप्रर्म्यमात्रय् इति होचुर्वृद्धा–इति ऐतिह्यम्। यथा इह वटे यक्षः प्रतिवसति इति न तत् प्रमाणान्तरम्, अनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात। आप्तवक्तृकत्वनिश्चये तु आगम एव।

तत्त्वकौमुदी – पृ. ७७

इस प्रकार अन्यान्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित प्रमाणान्तरों का अन्तर्भाव सांख्य के तीन प्रमाणा में ही हो जाता है और प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन ही प्रमाण युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

वाचस्पति की सांख्य में प्रमाणविषयक धारणाएँ न्याय से कुछ भिन्न रूप में मिलती हैं। तत्त्वप्रतिपादन की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों के दार्शनिक सिद्धान्तों के विश्लेषण में प्रमाण की संख्या में विभिन्नता आवश्यक प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त गौतम और कपिल के समान-प्रमाणों के स्वरूप में भी कुछ भेद है। सबसे पहले सांख्य के

तीन प्रमाण के स्थान में न्याय में चार प्रमाण माने जाते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।[२३]

इन चार प्रमाणों में प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ माना जाता है, क्योंकि इसके बिना अन्य किसी प्रमाण की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। न्यायसूत्र में इसकी परिभाषा देते हुए गौतम ने कहा है कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यभिचारी अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय का मतलब यहाँ पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक अन्तरिन्द्रिय मन से है। मन सब इन्द्रियों से प्रत्यक्ष काल में संयुक्त होता है। इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थ (विषय) से सन्निकृष्ट होती है और तब वस्तु ज्ञानं प्रत्यक्षात्मक होता है। यह ज्ञान अपने से भिन्न किसी अन्य विषय को इंगित करता है, जिसकी परिचिति आत्मा में है।[२४] यह विषय ज्ञाता से भिन्न वास्तविक सत्तावान होता है जो प्रमेय कहलाता है।

प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में वात्स्यायन ने कहा है कि प्रथमतः आत्मा मन से सुयुक्त होता है। इसके बाद मन और इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है और तब इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है – आत्मा मनसा संयुज्य। मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन। ज्ञानेन्द्रिय के पाँच भेद हैं – चक्षु, श्रोत, त्वक्, जिह्वा और नासिका। इन के विषय नियत हैं। आत्मा और मन के संयुक्त होने के बाद प्रत्येक का इसके साथ सम्बन्ध होता है और उसके बाद ही विषय से सम्पर्क होता है। इसलिए प्रत्यक्ष का इन्द्रियजन्य पाँच रूप हमारे सामने आता है – चक्षुष, श्रोत्र, स्पर्शन, रासन, घ्राणज। घट का ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष है। दूर से आते हुए मधुर संगीत का प्रत्यक्ष श्रौत्र है और गरम दूध का स्पर्श स्पर्श प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार मीठा, खट्टा आदि का स्वाद रासन प्रत्यक्ष और सुगंधि-दुर्गन्धि का प्रत्यक्ष घ्राणज है। प्रत्यक्ष के इस क्रम में घट, घटगत रूप 'रूपत्व शब्द' की शब्दत्व और भूतल से घटाभाव रूप जो ज्ञान होता है उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार का सन्निकर्ष होता है जिससे लौकिक प्रत्यक्ष होता है। उद्योतकर ने लौकिक सन्निकर्ष के छः भेद माने हैं। संयोग, संयुक्त, समवाय, संयुक्त-समवेत समवाय, समवाय-समवेत समवाय और विशेषण-विशेष्यभाव इनके पृथक् नाम हैं। चक्षुरिन्द्रिय से जब घट का प्रत्यक्ष होता है तो चक्षु इन्द्रिय, घट अर्थ और इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग है। जब घटगत श्यामलता आदि का प्रत्यक्ष होता है, उस समय चक्षु इन्द्रिय, घटगत रूप (गुण) अर्थ है ओर इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्त समवाय है। घटवत परिमाण आदि का भी ग्रहण इसी सन्निकर्ष से होता है परन्तु इसके लिए अन्य सन्निकर्ष-चतुष्टय – (१) इन्द्रिय और अर्थ (दोनों) के अवयव (२) दोनों के अवयवी (३) पहले का अवयव और दूसरे का अवयवी और (४) दूसरे का अवयवी और पहले का अवयव भी अभीष्ट कारण होते हैं। श्रोत्र प्रत्यक्ष काल मे श्रोत्रेन्द्रिय, शब्द अर्थ और इन दोनों का सन्निकर्ष समवाय है। शब्दत्व सामान्य का ग्रहण होने के समय

श्रोत्र, इन्द्रिय, शब्दत्व सामान्य अर्थ और इन दोनों का सन्निकर्ष समवेत-समवाय है। चक्षु से संयुक्त भूतल पर घटाभाव के ग्रहण काल का सन्निकर्ष विशेषण-विशेष्य भाव है। यही लौकिक भूतल पर घटाभाव के ग्रहण का सन्निकर्ष विशेषण-विशेष्य भाव है। यही लौकिक प्रत्यक्ष और लौकिक सन्निकर्ष है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष का एक और भेद है जिसे अलौकिक कहते हैं और इसके हेतुभूत सन्निकर्ष को भी अलौकिक कहा जाता है। प्राचीन न्याय में यह भेद नहीं किया गया है। परन्तु ऐसी बात तथ्यपूर्ण नहीं है। **न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका** में आचार्य वाचस्पति ने इसका समर्थन किया है। सामान्य लक्षण सन्निकर्ष की अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने एक उपमा भी प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि सामान्य लक्षण सन्निकर्ष को अस्वीकृत कर देने पर तो धूमादि हेतु में व्याप्ति निश्चय की आशा नामर्द से विवाह कराकर सुंदरी की पुत्र-प्रार्थना की तरह व्यर्थ है।[२५] इस प्रत्यक्ष के अर्थ वस्तुतः इन्द्रिय के सामने प्रस्तुत न होकर उनसे असाधारण रूप से सम्बन्धित होते हैं। इसी असाधारण सम्बन्ध को अलौकिक सन्निकर्ष और प्रत्यक्ष की अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

गौतम के प्रत्यक्ष सूत्र—इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेशमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्[२६] — में लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं — निर्विकल्पक और सविकल्पक। वाचस्पति ने व्यापदेशम् पद का अर्थ निर्विकल्पक एवं "व्यवसायात्मकम्" का अर्थ सविकल्पक ही लिया है जिस प्रत्यक्ष के विषयीभूत पदार्थ में विकल्प अर्थात् विशेष्य विशेषणभाव नहीं है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हैं सविकल्पक प्रत्यक्ष से विषयीभूत पदार्थ में विकल्प यानी विशेष्य भाव रहता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की प्रसिद्ध परिभाषा दी जाती है — नामजात्यादियोजनारहितं वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकम्। श्लोकवार्तिक में निर्विकल्पक को प्रथम ज्ञान कहा गया है — अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।[२७] **प्रमाणसमुच्चय** में बौद्धदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य दिङ्नाग ने मात्र प्रत्यक्ष के एक भेद निर्विकल्पक को मानते हुए बतलाया है -- प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़ं नामजात्यद्यसंयुतम्।[२८]

गंगेश उपाध्याय जो नव्य न्याय के प्रसिद्ध आचार्य हैं, निर्विकल्पक ज्ञान में प्रमात्व अथवा अप्रमात्व कुछ भी नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि प्रमा या अप्रमा कोई भी प्रकारता घटित होती है, जिससे कुछ भी विशेषणता रहती है। निर्विकल्पक ज्ञान तो प्रकारताशून्य होता है जिसमें न प्रमा की ही सत्ता है और न अप्रमा की ही। **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** में नव्यमत का उल्लेख करते हुए विश्वनाथ ने लिखा भी है —[२९]

अथवा तत्प्रकारकं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम्।
तत्प्रमा नप्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम्।।
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्।

प्रमात्व या अप्रमात्व प्रकारतादि (विशेषता) आदि युक्त ज्ञान में रहते हैं। निर्विकल्प ज्ञान तो प्रकारता आदि से शून्य होता है। यही कारण है कि निर्विकल्पक ज्ञान न तो प्रमा है और न अप्रमा ही, बल्कि दोनों से विलक्षण है।

वाचस्पति ने अव्यपदेश्य शब्द से निर्विकल्पक ज्ञान को लिया है जिसे प्रमा की पूर्व कोटि में रखा है।[30] इसमें अविशिष्ट ज्ञान होता है और उसके पश्चात् ही सविकल्पक ज्ञान सम्भव है। 'अयं घटः' में जिसका प्रत्यक्ष होता है वह घटत्व विशिष्ट घटविषयक प्रत्यक्ष है। वहाँ घट का धर्म घटत्व और घट विशेष्य है, परन्तु तादात्म्य सम्बन्ध से घट को भी विशेषण कह सकते हैं। घटस्वरूप से विशेषण के ज्ञान के बिना उस तरह का विशिष्ट प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता। चक्षुरिन्द्रिय का घट के साथ सन्निकर्ष होने के पहले घट एवं घटत्व का अविशिष्ट प्रत्यक्ष होता है। यही निर्विकल्पक ज्ञान है और इसे मानना ही पड़ेगा। इसे सविकल्पक ज्ञान भी नहीं कह सकते क्योंकि यह घटत्व विशिष्ट घट विषयक ज्ञान नहीं होता। पुनश्च, उसका मानस प्रत्यक्ष भी नहीं होता इसलिए वह अतीन्द्रिय है।

सविकल्पक ज्ञान की स्थिति में 'घटमहं जानामि' विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है जिसमें घटत्व विशेषण से उत्पन्न घट विषयक बोध होने पर 'मैंने घटत्व रूप से घट को जाना है' एवं प्रकारक मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है जो उस ज्ञान का अनुव्यवसाय है। इस क्षण का उत्पन्न ज्ञान निर्णयात्मक होता है। इसमें वस्तु के गुण का निश्चित रूप से कथन हो सकता है।

प्रत्यक्ष पूर्वक लिंग परामर्शात्मक ज्ञान से जो परोक्ष अनुभूति होती उसे अनुमिति ज्ञान कहते हैं। अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण कहलाता है। न्यायसूत्र में गौतम-तत्पूर्वकम् प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान के तीन भेद बताए हैं – पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। वाचस्पति की दृष्टि में सांख्य और न्याय की अनुमान प्रक्रिया में कोई खास भेद नहीं है। विशेषता केवल यही है कि **तत्त्वकौमुदी** में इसके दो भेद – वीत और अवीत भी मिलते हैं। **तत्त्वकौमुदी** और **तात्पर्यटीका** के अनुमान-विषयक सिद्धान्त की एकरूपता दिखाने के लिए वाचस्पति ने कहा भी है –

सर्वं चैतदस्माभिः न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्।

सांख्यतत्त्व कौमुदी पृ. ५८

न्यायसूत्र के अनुसार उपमान तीसरा प्रमाण है। इससे उत्पन्न ज्ञान उपमिति है। उपमिति संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध ज्ञान को कहते हैं। सामान्यतः इसका कारण सादृश्य ज्ञान है। उपमान प्रमाण का लक्षण करते हुए गौतम ने कहा है – प्रसिद्धसाधर्म्याद् साध्यसाधनमुपमानम्।[31] ज्ञान के साधर्म्य से साध्य के साधन को उपमान कहते हैं। भाष्यकार ने कहा है कि जाने हुए गौ आदि पदार्थ के समान धर्म के होने से जानने

योग्य गवयादि पदार्थ को जान लेना उपमान प्रमाण है। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति गवय (नील गाय) को स्वयं नहीं जानता है, परन्तु किसी अप्रवासी विश्वस्त आदमी से सुनता है कि गवय गो-सृदृश जानवर है। अब यदि उसे जंगल में रहने वाले इस प्रकार के पशु का दर्शन होता है और उसमें गाय के सादृश्य का प्रत्यक्ष होता है तो वह पूर्वश्रुत उस अरण्यवासी के वाक्य का स्मरण करता है। इसके अनन्तर परक्षण में गवयत्व विशिष्ट पशुमात्र मे गवय का ज्ञान होता है। गौतम के अनुसार अन्य कोई प्रमाण इस पद्धति के गवय शब्द के वाच्यत्व का निर्णय नहीं कर सकता। इस ज्ञान का मूल आधार सादृश्य या सारूप्य है। परन्तु सादृश्य या सारूप्य का अर्थ किसी एक अंश की समानता ही नहीं अपितु जाति या सामान्य की एकरूपता है। जिन दो वस्तुओं में सादृश्य बतलाना है, उनमें एक जातीयता होनी चाहिए। इसीलिए न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने सादृश्य शब्द का स्पष्टीकरण देते हुए कहा है – सारूप्यं तु सामान्ययोगः। कौआ और हाथी में कृष्णता को लेकर सारूप्यता है। परन्तु रंग की इसी समानता पर दोनों को एक नहीं कहा जा सकता है, प्रत्युत कोकिल और काक में सजातीयता होने से सारूप्य सम्बन्ध दोनों में माना जा सकता है।

न्यायवार्तिक तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने वात्स्यायन के इस विचार का खण्डन किया है कि उपमिति ज्ञान के विषय और ज्ञान के स्वरूप में कोई भेद है। दोनों में संज्ञा सम्बन्ध एकमात्र आवश्यक है। उपमिति ज्ञान का विषय – यह गवय पदार्थ है और ज्ञान का स्वरूप गवय पद का अर्थ है। यहाँ वैशिष्ट्य सिर्फ एक ही है और वह है उपमिति के कारण के स्वरूप में विलक्षणता। वात्स्यायन के विचार में 'गोसदृशो गवयः, इस आरण्यक की उक्ति में 'सादृश्य' ही उपमिति का कारण है और वही उचित उपमान प्रमाण भी है। परन्तु वाचस्पति की धारणा इस सम्बन्ध में कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि गवय के दर्शन के अन्तर उसमें गौ का जो सदृश्य दिखाई पड़ता है, वही अतिदेश वाक्य के स्मरण से सहायता पाकर उपमिति का कारण है और इसीलिए शब्द से उत्पन्न स्मरण की अपेक्षा रखने वाला सादृश्यज्ञान उपमान कहलाता है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि नागरिक मनुष्य अरण्यवासी के (अतिदेश) वाक्य का स्मरण करता है। इसी की सहायता से गवय में प्रत्यक्ष होने वाले सादृश्य से गवय पिण्ड और गवय शब्द को एक बताने की आरण्यक की इच्छा को वह नागरिक समझता है, जिसमें ज्ञान और प्रमाण दोनों का कारण सादृश्य है।

वाचस्पति ने प्रसिद्धि के दो भेद बताएँ हैं – श्रुतिमयी और प्रत्यक्षमयी। "यथा गौस्तथा गवयः" यह प्रसिद्धि श्रुतिमयी है। गो सदृश पिण्ड में 'पिण्डोऽयं गवयः' इस प्रकार का प्रत्यक्ष प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धि है। इन दोनों में दूसरा प्रकार अतिदेश वाक्य से उत्पन्न स्मरण की अपेक्षा संज्ञा के ज्ञान का स्पष्ट कारण है। इसलिए प्रत्यक्षतः दृष्ट सादृश्य की उपमिति का कारण होता है।

इसके अतिरिक्त वाचस्पति ने प्रसिद्ध साधर्म्य के समान वैधर्म्य के प्रत्यक्ष से भी उपमिति ज्ञान होना बतलाया है। इसे वैधर्म्योपपत्ति कहा गया है। उदाहरणार्थ.कोई व्यक्ति 'ऊँट को 'करभ' शब्द से नहीं जानता। उसने किसी जानकार आदमी से सुना है कि उस करभ का रूप बहुत भद्दा है, जिसका ग्रीवा-प्रदेश बहुत लम्बा होता है। वह कठोर काँटे को खाता है। इसके बाद कभी उसने कहीं ऊँट को देखा, फिर अपने पूर्वज्ञान में रहने वाले गाय आदि पशुओं से उसने ऊँट में वैधर्म्य देखा और तब पूर्वश्रुत वाक्यार्थ का स्मरण करके ऊँट करभ शब्द का वाच्य है – ऐसा उसे उपमिति ज्ञान हुआ। यही वैधर्म्योपमिति है। कुछ विद्वानों ने गाय के पूर्वज्ञान से वैधर्मी ऊँट को 'वैधर्म्य उपमान' से जानकर तथा उस (ऊँट) के धर्म और करभ के धर्म को समान जानकर एक तीसरा भी भेद किया है जिसे 'धर्ममानोपमान' कहा गया है। व्यावहारिक रूप में उपमान प्रमाण नाम से वस्तु के बोध का प्रतिपादक कारण है।

शब्द प्रमाण उपमान के बाद चौथा प्रमाण है। न्याय दर्शन के अनुसार आप्त व्यक्ति का उपदेश (वाक्य) शब्द प्रमाण है। वह दो प्रकार का होता है – दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ।[32] आप्त का अर्थ यथार्थ वक्ता है "आप्तस्तु यथार्थवक्ता", जिसने कभी झूठ नहीं कहा है, जितेन्द्रिय है और प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा विषय का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर लिया है – "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा"।[33] वही व्यक्ति स्वानुभव से विषय को जानते हुए दूसरों के बोध के लिए उपदेश का अर्थ शब्द (वाक्य) से उत्पन्न ज्ञान अथवा उसके अर्थ को ज्ञान कहा है। इसमें प्रथम विश्लेषण का परिणाम है, वाक्य के अर्थ का ज्ञान और पदार्थ का स्मरण इत्यादि अवान्तर व्यापार है। द्वितीय पक्ष में वाक्यार्थ ज्ञान का फल होता है उपादान, ज्ञान, उपेक्षा बुद्धि का आविर्भाव। वस्तुतः उपदेश का अर्थ दूसरे के प्रयोजन को कहने वाला वचन है।

परवर्ती नव्यन्याय के आचार्यों ने वाक्य के अन्तर्गत पद-समूह के स्मरणात्मक ज्ञान को ही वाक्यार्थ बोध का कारण होने से शब्द प्रमाण कहा है। यथार्थतः शाब्दबोध से पूर्व पद का ज्ञान और उसके अर्थ का स्मरण आवश्यक है। एक-एक पद का ज्ञान हाने पर भी बाद में उन सब पदों का समूहालम्बनात्मक स्मरण होता है और तब उन सब पदार्थों का उस प्रकार का स्मरण होता है। पदार्थ समरण रूप व्यापार से पहले उत्पन्न वह पद स्मरण शाब्दबोध (वाक्यार्थ बोध) का कारण होने से शब्द प्रमाण है। शाब्दबोध के अव्यवंहित पूर्वक्षण में उस वाक्य के विद्यमान नहीं रहने से वह शब्द प्रमाण नहीं हो सकता। परन्तु प्राचीन न्याय के आचार्यों के मत में स्मरण रूप ज्ञान तत्त्व संबंध में वह वाक्य भी आत्मा में विद्यमान होने से शब्द प्रमाण हो सकता है। इसलिए पदार्थ-स्मरण ही मुख्य शब्द प्रमाण है।

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ शब्द प्रमाण के दो भेद हैं। जिस शब्द से इस लोक में प्रत्यक्ष की जा सकने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध मे ज्ञान होता है वह दृष्टार्थ है – यस्य इह दृश्यते अर्थः स दृष्टार्थः।[34] अनुभवी किसान की खेती-बाड़ी सम्बन्धी उक्तियाँ आदि इसके उदाहरण हैं। जिस आप्त व्यक्ति का प्रतिपाद्य अर्थ इहलोक में अन्य किसी प्रमाण से समझा नहीं जाता, वह अदृष्टार्थ शब्द प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष नहीं की जा सकने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में ज्ञान देता है। इसका प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणीकरण सम्भव नहीं होने पर भी इसकी सत्यता में विश्वास किया जाता है। उदाहरणार्थ 'स्वर्गकामः अश्वमेधेन यजेत' इत्यादि वेद वाक्य स्वर्ग की इच्छा रखने वाले अधिकारी अश्वमेध यज्ञ करें, ऐसा उपेदश करता है। अश्वमेध यज्ञ उनके लिए स्वर्ग का साधन है। परन्तु इस संसार में ऊपर किसी प्रमाण से भी अश्वमेध यज्ञ की स्वर्ग-साधनता नहीं मालूम होती। इसके अतिरिक्त स्वर्ग नामक सुख विशेष का भी इहलोक में अनुभव नहीं किया जाता। वेद आदि शास्त्रों में और भी बहुत से तत्त्व हैं जिनका ज्ञान अन्य किसी प्रमाण से नहीं होता। तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमांप्तागमात् सिद्धम् की सांख्यकारिका पर वाचस्पति ने **तत्त्वकौमुदी** में इसे स्पष्ट किया है।[35]

दृष्ट और अदृष्ट की इस सीमा के बाद भी ऐसा देखा जाता है कि वेद आदि शास्त्र में बहुत से दृष्टार्थक वाक्य हैं और सत्य अर्थ वाले बहुत से लौकिक वाक्य भी अदृष्टार्थक शब्द-प्रमाण हैं। इसीलिए सर्वत्र सत्यवादी विज्ञ व्यक्ति के वाक्य को सुनकर तदनुसार लोक व्यवहार चलता है। जो व्यक्ति जिस विषय में आप्त है उस विषय में उसका वाक्य ही आप्तवाक्य है। यही कारण है कि भाष्यकार वात्स्यायन ने आप्त लक्षण ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छ में समान माना है। जब ऋषि के वाक्य की तरह मनुष्य और म्लेच्छ के वाक्य में भी सत्यता है तो क्यों नहीं उसमें शब्द-प्रमाणता मानी जाए। परन्तु अलौकिक विषय में सब व्यक्ति आप्त नहीं माने जा सकते।[36]

न्याय और सांख्य में वाचस्पति ने प्रमाण की संख्या में अन्तर माना है। ऊहपूर्वक तत्त्व के परीक्षण के लिए मुख्य रूप से न्याय में प्रत्यक्षादि प्रमुख तीन प्रमाणों के अतिरिक्त उपमान प्रमाण को भी स्वीकार करना पड़ा। **तत्त्वकौमुदी** में यद्यपि उपमान का अन्तर्भाव वाचस्पति ने शब्द और अनुमान में किया है परन्तु व्यवहार में ऐसा सम्भव नहीं है। **तात्पर्यटीका** में उन्होंने स्वयं प्रतिपादित किया है कि "यथा गौस्तथा गवयः" इस वाक्य को सुनने पर भी तब तक उस पदार्थ का ज्ञान नहीं होता जब तक यह पशु पूर्वदृष्ट गौ के सदृश्य है, इसका स्मरण नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि ऐसे वाक्य के श्रवण के बिना गवय को देखने पर भी नगरवासी को उसमें गवय शब्द के वाच्यत्व का निर्णय नहीं होता। पुनश्च उपमिति और अनुमिति में भी भेद है। उपमिति की तरह सादृश्य कर प्रत्यक्ष किसी अनुमिति का कारण नहीं होता और किसी हेतु में पहले अनुमेय धर्म की व्याप्ति निश्चय के बिना अनुमिति नहीं हो सकती। वास्तविकता

तो यह है कि अनुमान में लिंग और लिंगी के बीच सम्बन्ध यथार्थ व्याप्ति या स्वाभाविक सहचार का सम्बन्ध होता है, परन्तु उपमान में लिंग-लिंगी या व्याप्ति नामक का कोई विचार नहीं किया जाता। साथ ही शब्द में भी वाचक (शब्द) और सूचित होने वाली वाच्य वस्तु (अर्थ) में स्वाभाविक सहचार या व्याप्ति सा कोई पदार्थ बीच में नहीं रहता। इसलिए उपमान प्रमाण की शब्द और अनुमान में गतार्थता नहीं है। सत्य तो यह है कि वाचस्पति ने प्रमाण के विश्लेषण में **न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका** को ही मुख्य बतलाया है।[३७]

---

१. न्यायसूत्र – १/१/१५

२. **खण्डनखण्डखाद्य** – प्रमानिरूपण।

३. वाचस्पति मिश्र–**न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका**।

४. अभ्यासदशकस्य ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यत इति–**तर्कभाषा** पृ. १४१–४२ चौरदंश संस्कृत सीरीज १९७१।

५. यस्तु अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणिमिति लक्षणम्, तन्न, एकस्मिन्नेव घटे घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसंगात्। न चान्यक्षणो विशिष्टविषयीकरणाद् अनधिगतार्धगन्तृता, प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकालभेदाकलनात्। **तर्कभाषा**–प्रमाण निरूपण।

६. **न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका**, पृ. २१

७. **सांख्यतत्त्वकौमुदी**–कारिका ३, पृ. ३६

८. **सांख्यकारिका**, ३

९. **तत्त्वकौमुदी**, पृ. ४१

१०. अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारो ज्ञानम्। उपात्तविषयाणाम् इन्द्रियाणां वृतौ सत्याम् बुद्धेः तमोभिभवे सति यः सत्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्याते। **तत्त्वकौमुदी**, पृ. ४६

११. **तत्त्वकौमुदी** की भूमिका, पृ. ७२. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर।

१२. न च पुरुषान्तरगता अज्ञानसन्देहविपर्ययाः शक्या अर्वागदृशा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुम्। नापि प्रमाणान्तरेण, अनभ्युपगमात्। **तत्त्वकौमुदी**, पृ. ५२

१३. तत्तु द्विविधम्। प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं सामान्यतोदृष्टसम्बन्धं च। **शाबरभाष्य** १/१/५

१४. तत्तु द्विविधम्। दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च। **प्रशस्तपादभाष्य**, पृ. १०४

१५. **सांख्याकारिका** – ५ माठरवृत्ति

१६. **तत्त्वकौमुदी**, पृ. ५७

१७. **न्यायभाष्य** १/१/५

१८. **तत्त्वकौमुदी**, पृ. ६१

१९. न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् – **सं.सू.** ५/४५

२०. **तत्त्वकौमुदी**, पृ. ७४

२१. न्यायसूत्र २/२/१ पर **वात्स्यायनभाष्य**।

२२. अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम् ऐतिह्यम् **न्यायभाष्य** २/२/१

२३. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि– न्यायसूत्र १/१/३

२४. विज्ञानम् आत्मसंवेदनम्–**न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका**, पृ. ४

२५. **न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका**, पृ. २६

२६. न्यायसूत्र १/१/४

२७. श्लोकवार्तिक/१७२

२८. प्रमाणसमुच्चय/१

२९. **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** कारिका १३४-१३६

३०. **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका** (कलकत्ता), पृ. ११४

३१. न्यायसूत्र १/१/६

३२. आप्तोपदेशः शब्दः। स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्। न्यायसूत्र – १/१/७-८

३३. **न्यायभाष्य**, पृ. ४०

३४. **वात्स्यायनभाष्य**, पृ. ४१

३५. **सांख्यकारिका**, ६ पर एक **तत्त्वकौमुदी**

३६. **न्यायपरिचय**, वाराणसी, पृ. १६३

३७. **तत्त्वकौमुदी**, पृ. ५८

6

भ्रमस्थल में प्रतीति के सिद्धान्त और वाचस्पति मिश्र

पदार्थ शब्द और अर्थ का समवेत ज्ञान है। ज्ञान का यह परिणाम दूध से दही की तरह परिणत नहीं, अपितु संज्ञनात्मक है। इस तरह वस्तु और वस्तुबोध की द्वैत सत्ता सिद्ध होती है। चैतन्य की स्वप्रकाशता पदार्थ में चेतनता का सम्प्रेषण करती है। दोनों की एकरूपता होने पर वस्तु की प्रतीति होती है। अन्य स्थिति में प्रतीति का अभाव नहीं रहता, परन्तु वह यथार्थ नहीं हो पाती। इसको कुछ लोग ज्ञानाभाव कहते हैं। अभाव के द्वारा इसे कहना उचित नहीं समझा जा सकता, क्योंकि वैसी स्थिति में सत् असत् कुछ भी नहीं बोधित हो सकता है। रज्जु में सर्पत्व का ज्ञान रज्ज्वात्मना सत् और सर्पात्मना असत् है, यही ठीक है, परन्तु रज्जु से भिन्न सर्परूप में तो वह ज्ञान असत् नहीं कहा जा सकता है। एवम्प्रकारेण ज्ञान पदार्थ की दृष्टि से विरोधी स्वरूप में उपस्थित होता है। व्यावहारिक दृष्टि से यह विरोध औचित्य का निर्वाह नहीं कर सकेगा, ऐसा लगता है, किन्तु स्थिति वस्तुतः वैसी नहीं हो सकती।

ज्ञान प्रमात्मक और भ्रमात्मक दो तरह के होते हैं। उसमें प्रमात्मक ज्ञान के विषय में तो मतैक्य है, परन्तु भ्रमात्मक ज्ञान के सम्बन्ध में मतवैभिन्य होते हैं। इसी को भ्रम, मिथ्याज्ञान, अध्यास आदि के नाम से कहा जाता है। इस विषय में दार्शनिक सम्प्रदायों में कोई विवाद नहीं है। सिर्फ भ्रमस्थल में किस पदार्थ की प्रतीति होती, इसी में अनेक मत दर्शनशास्त्र में वर्णित है। विद्वानों के प्रायः पाँच प्रकार के मत इस सम्बन्ध में प्रचलित हैं, जिन्हें ख्यातिपंचक कहा जाता है। ख्याति का अर्थ ज्ञान है, परन्तु भ्रम के स्थान पर यह प्रतीति किसी को होती है, इसी की विवेचना दार्शनिकों ने अपने ढंग से की है।

बौद्धदर्शन के चार भेदों में एक योगाचार आत्मख्याति मानता है। यहाँ शुक्ति में रजत या रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। इनका कहना है कि मानसिक विज्ञान बाहर रजताकार में परिणत हो जाता है और वैसी स्थिति में विज्ञान संतान की एक सम्पृक्त कड़ी रजतरूप में दीख पड़ती है और बुद्धि विषयरूय में अवभासित होती

है। इसलिए जहाँ शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है वहाँ अलग रजत आदि की ख्याति नहीं होती है, जिससे उस वस्तु की सत्ख्याति की जाए किन्तु बुद्धि की ही रजत रूप में ख्याति होती है और 'इदम् रजतम्' यह बुद्धि ही रजत रूप में भासित होती है। परन्तु सुख-दुख की तरह जब रजत को आन्तरिक नहीं मानते, ऐसी स्थिति में उसके बाह्यरूप का भ्रम कैसे हो सकता है। अतएव यह मत युक्तियुक्त नहीं मालूम पड़ता।

सौत्रान्तिक के मत के ज्ञानाकार रजत आदि का बाह्यशुक्ति में आरोप है, वैसा बोध होता है। इसलिए इस मत को साकार ख्याति कहते हैं। इनका कहना है कि बाह्य वस्तु सत् नहीं है तथापि उसे आलोक में ही ज्ञानाकारता का बोध होता है। क्योंकि जो जैसा अनुभव सिद्ध है, उसे वैसा मानना चाहिए। यह स्वभाविक बात है कि शुक्ति में 'इदम् रजतम्' इस ज्ञान का 'नेदम् रजतम्' से बाध होता है। यहाँ इदन्ता रूप धर्म ही बाधित होता है, रजतरूप धर्मी नहीं। इसलिए इस बाधक ज्ञान से बाह्यरूप में रजत बाधित होने पर भी ज्ञान रूप में स्थित रहता है। उसी ज्ञानाकार का शुक्तिरूप में रजत का आरोप होता है यह उनका मत है। किन्तु इस तरह साकार ख्याति उपमिति से सिद्ध नहीं होती क्योंकि रजतादि की विज्ञानाकारता का प्रतिपादन अनुभव या अनुमान से ही किया जा सकता है। उसमें परोक्षस्थिति के कारण व्याप्ति के अभाव में अनुमान का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अनुभव भी रजतज्ञान या बाधक ज्ञान के रूप में कहा जा सकता है। परन्तु 'इदम् रजतम्' के द्वारा रजत का ज्ञान नहीं होता क्योंकि वहाँ 'इदम्' से अंगुल्या शुक्ति का ही निर्देश होता है।

यदि हम उसे आंतर वस्तु कहना चाहें तो वैसा भी नहीं कर सकते क्योंकि उनके मत में प्रतिपत्ता और प्रत्यक्ष में भेद नहीं होने के कारण 'इदम् रजतम्' के बदले वहाँ 'इदं अहम्' यही अनुभव बताया जा सकता है और वैसा कहा नहीं जा सकता। बाधक प्रत्यय से उसे समझा जाता है, यह भी नहीं कह सकते क्योंकि वहाँ यह विकल्प उठाया जाता है कि क्या वह सामने रहने वाली वस्तु को रजत से अलग कर पाता है या ज्ञानाकारता को भी दिखा पाता है। परन्तु वैसी स्थिति में बाधक प्रत्यय रूप अनुभव से भी विज्ञानाकारता की व्यवस्था नहीं की जा सकती। इसलिए साकार ख्याति कथमपि ठीक नहीं प्रतीत होती।

माध्यमिक के अनुसार एकमात्र शून्य ही सत् है। इसके अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं हैं। भ्रम में असत् की ही सत्वत् प्रतीति होती है। रजत का जो भ्रम शुक्ति मे होता है,उस भ्रम का आलम्बन ही शून्य है कोई सत् नहीं। इनके मत में शुक्ति भी कोई पदार्थ वस्तु नहीं है। माध्यमिक के अनुसार 'असत् प्रकाशन शक्तिमती' जो वासना है वह स्वयं असत् स्वरूप होने पर भी सत्वत् भासित होती है। यह प्रकाश अनादि काल से ही निरन्तर धारा प्रवाहरूप से चला आ रहा है। असत् प्रकाशन

शक्तिमती जो वासना है वह असत् विज्ञान को भी सत् के सदृश प्रकाशित करती है। साथ ही, अपने सदृश असत् प्रकाशन शक्ति को भी प्रकाशित करती है। इनके वासना विज्ञान में जो असत् प्रकाशन शक्ति है, वह स्वप्न के दृष्टान्त से सिद्ध होती है। जिस प्रकार स्वप्न में भी सत् पदार्थ का ही भान होता है, उसी प्रकार संसार में असत् पदार्थ का ही सदा भान रहता है। इसी असत् प्रकाशन शक्ति को अविद्या और संवृत्ति भी कहते हैं। इसलिए असत् प्रकाशन शक्तिमती अविद्या से ही असत् प्रपंच सत् के सदृश भासित होता है। इसलिए प्रकृत में भ्रम का आलम्बन जो शुक्ति है वह भी असत् ही है।, यह सिद्ध हो जाता है। इसलिए इनके सिद्धान्त को असत् ख्याति कहते हैं।

शून्यवादी मानते हैं कि बाह्यवस्तु में ज्ञान धर्म का आरोप अध्यास है – तम् केचित् अन्यत्र अन्यधर्माध्यास इति वदन्ति[1] सौत्रान्तिक के मत में बाह्यवस्तु सत् है। उसमें ज्ञानाकार का आभास होता है। विज्ञानवादी के मत में बाह्यवस्तु सत् नहीं है। तो भी अनादि अवद्यिा की वासना से आरोपित असत् बाह्य में ज्ञानाकार का आरोप होता है। परन्तु शुक्ति में जब रजत अनुभव सिद्ध है तब उसे भ्रम कहना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इसके उत्तर में इनका तर्क है कि बलवद् बाधक ज्ञान के कारण जब अनुभवसिद्ध को भी अन्यथा मानना पड़ता है। शुक्ति में 'इदं रजतम्' ज्ञान के बाद जब 'नेदं रजतम्' यह बाधक ज्ञान होता है तब उससे अनुभव के विपरीत 'इयं शुक्तिः' ऐसा ज्ञान होता है – यह इनकी मान्यता है। इस बाधक ज्ञान में रजत धर्मी है और इदन्ता धर्म। 'न' से रजतधर्मी का बोध मानने पर धर्म एवं धर्मी दोनों का बोध मानना पड़ेगा। इससे अच्छा होगा कि इदन्ता रूप धर्म का ही बोध हो। धर्मी रजत का नहीं और इसे माना जाए। इस तरह बाहर बाधित होने पर भी रजत अन्तर ज्ञान में व्यवस्थित रहता है और ज्ञानाकार का बाहर अध्यास होता है, यह उनका विवेचन है। सौत्रान्तिक एवं माध्यमिक में बाह्यवस्तु की सत्ता में मतभेद रहने पर भी तदाकारता का आभास दोनों मानते हैं।

माध्यमिक के इस सिद्धान्त का खण्डन **भामती** में है। कारण यह है कि असत् किसी का कारण नहीं होता। इसके अतिरिक्त असत् की प्राप्ति की अभिलाषा में किसी जिज्ञासु की प्रवृत्ति भी नहीं होती और प्रकृत स्थल में रजतार्थी की शुक्ति में अभिमुख प्रवृत्ति देखी जाती है। यदि यह कहें कि विज्ञान में वासना आदि स्वकारणवश और स्वप्न आदि दृष्टान्त से एक प्रकार का विशेष धर्म आ जाता है, जिससे असत् शुक्ति का आदि भी सत् के ही सदृश भासित होते हैं और इसी के चलते रजतबुद्धि से उसमें प्रवृत्ति अनिवार्य है तो यह तर्क युक्तिसंगत नहीं लगता क्योंकि इससे शक्य का निरूपण सम्भव नहीं लगता। भाव यह है कि असत् प्रकाशन शक्तिमान विज्ञान को शक्त माना गया है। उस विज्ञान से अपनी शक्ति द्वारा प्रकाशित घट आदि वस्तुओं को शक्य

कहा जाता है परन्तु प्रश्न यह उठता है कि वह शक्य विज्ञान का कार्य है अथवा ज्ञाप्य; कार्य तो जन्य (उत्पन्न होने वाला) होता है। जैसे दण्ड-चक्रादि से उत्पन्न घट कार्य है। ज्ञाप्य अन्य विषय के ज्ञान को कहते हैं। प्रकट में घट आदि वस्तु कार्य नहीं हो सकते। उनकी कार्यता तभी होगी जब कोई उपादान कारण होगा। परन्तु बौद्ध का विज्ञान शून्य होने से किसी का उपादान नहीं हो सकता। इसलिए शक्य की कार्यता सिद्ध नहीं होती। अगर इसे ज्ञाप्य मानें तब भी काम नहीं बनता। इसमें व्यवधान यह है कि शक्य को उनके मत से कार्य स्वीकार किया गया है। ज्ञाप्य हो ही नहीं सकता यदि घटादि शक्य को ज्ञाप्य मानें तो उस विज्ञान का ज्ञापकत्व अर्थतः सिद्ध हो जाता है परन्तु ज्ञापक का ज्ञाप्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। वह सम्बन्ध स्वजन्य ज्ञान के द्वारा होता है, जिस प्रकार ज्ञापक द्वीप आदि घट आदि ज्ञान के जनक हैं और उस विज्ञान से उत्पन्न घटादि विषयक दूसरा कोई ज्ञान विज्ञान से भिन्न प्राप्त नहीं होता। यदि द्वितीय ज्ञान की उपलब्धि मानें तो द्वितीय ज्ञान का शक्य जो घट आदि अर्थ है, उनको कार्य मान नहीं सकते क्योंकि उसका कारण असत् विज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए उसको ज्ञाप्य ही स्वीकार करना होगा। इस तरह स्वीकृत जो द्वितीय ज्ञान है, उसका भी घटादि का ज्ञापक होना अर्थतः सिद्ध हो जाता है। ज्ञापक भी ज्ञान का जनक ही होता है। इसका कारण यह है कि ज्ञापक का साक्षात् सम्बन्ध ज्ञाप्य के साथ नहीं होता, किन्तु वह ज्ञान के द्वारा ही होता है। इसलिए दूसरे ज्ञान से जन्य एक तीसरा ज्ञान और इस तरह चौथा-पाँचवाँ ज्ञान मानते रहने से अन्ततः अनवस्था दोष आपतित होता है।

असत् विज्ञानवादी का मत इसलिए भी असत् प्रलाप सिद्ध होता है कि रजत आदि की विज्ञानाकारता अनुमान या अनुभव से ही व्यवस्थापित की जा सकती है। उसमें साथ-साथ अनुमेय और अनुमापक की उपलब्धि के बिना विज्ञान से अतिरिक्त वस्तु नहीं मानने वाले के मत में अनुमान का प्रतिपादन ही नहीं किया जा सकता है। बताया गया है— 'सहोपालम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैः दृश्यतेन्दाविवाद्वये' इस तरह पृथक साथ-साथ उपलब्धि के अभाव में कौन किसका अनुमापक बताया जा सकता है। अनुभव से भी विज्ञानाकारता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ अनुभव सत् ज्ञानरूप ही कहा जा सकता है जिससे विज्ञानाकारता की सिद्धि बतानी होगी। परन्तु यह अनुभव अहंकारास्पद बाह्यस्थित रजत को नहीं बताता है, यह सिद्ध है। यह अन्तर वस्तु को भी नहीं बतलाता ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कयोंकि ज्ञान और ज्ञाता में अभेद होने के कारण वैसी स्थित में 'अहम्' यही ज्ञान हो सकता है। भ्रान्तिविज्ञान तो बाह्यरूप में अपने आकार को ही निश्चय करता है। इसलिए अहंकारास्पद तो बाह्यरूप में अपने आकार को ही निश्चय करता है। इसलिए अहंकारास्पद उसका विषय नहीं हो सकता और रजत प्रत्ययरूप अनुभव के कारण विज्ञानाकारता की व्यवस्था नहीं की जा सकती। बाधक प्रत्यय के कारण अज्ञानाकारता

की ज्ञानाकारता समझी जाती है। यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस बाधक ज्ञान से केवल पुरोवर्ति द्रव्य को रजत से भिन्न बताया जाता है और ज्ञानाकारता का उपदर्शन बताना तो हास्यास्पद ही होगा। बाधकप्रत्यय से पुरोवर्तित्व के प्रतिषेध के कारण अर्थतः ज्ञानाकारता का प्रतिपादन होता है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि बाधक ज्ञान के द्वारा असन्निधान के अग्रहण का निषेध होता है। अतः ज्ञाता से उसे असन्निहित होना चाहिए। ऐसी स्थिति में प्रतिपत्तारूप सन्निधान का प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है? बाधक प्रत्यय से रजत का निषेध होता है, इदन्ता का नहीं, किन्तु विवेकाग्रह के कारण प्राप्त रजत व्यवहार का बोध होता है, यह भी अनुभव विरोध होने के कारण नहीं कहा जा सकता और इसलिए यह भी कथन उचित नहीं लगता है कि रजतज्ञान से शुक्ति में रजत प्राप्य है जिसका बोध किया जा सकता है, क्योंकि रजत निर्भास का आलम्बन शुक्ति को नहीं कह सकते।

सत्तामात्र से कोई आलम्बन नहीं होता। इस तरह आलम्बन मानने पर सत्ता मात्र से सबको सबका आलम्बन मानना पड़ेगा। कारण मात्र होने से भी आलम्बन नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वैसा मानने पर, इन्द्रियाँ कारण हैं, इसलिए उनको भी आलम्बन मानना पड़ेगा। अतः असमानता ही आलम्बन है, इसे ही मानना चाहिए। किन्तु रजतज्ञान में शुक्तिका भासित नहीं होती। वैसी स्थिति में उसे आलम्बन कैसे कह सकते हैं; भासित मानने पर तो अनुभव के विरुद्ध मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि इन्द्रियों को समीचीन ज्ञान कराने की शक्ति उपलब्ध है। उनसे मिथ्याज्ञान कैसे हो सकता है। दोष सहित होने पर भी मिथ्या ज्ञान कराने की शक्ति भी उन में है – ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोष केवल कार्य की उत्पत्ति के सामर्थ्य के विधात के प्रति ही उत्पत्ति माननी पड़ेगी। तीसरी बात यह भी है कि इस तरह विज्ञान के अपने विषय में व्यभिचरित होने पर सब जगह विज्ञान की मान्यता में अप्रमाणिकता आ जाएगी। इसलिए उनका असत् ख्यातिवाद युक्त नहीं लगता, ऐसी वाचस्पति की मान्यता है।

मीमांसकों में प्रभाकर गुरु का मत अख्यातिवाद है। उनका कहना है कि रजत का जहाँ भ्रम होता है, वहाँ रजत किसी प्रकार भी नहीं है। प्रतीति के समय भी वह उत्पन्न नहीं होता। परन्तु 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में 'इदम्' अंश का ही प्रत्यय होता है। रजत अंश नहीं। इदम् अंश के प्रत्यक्ष होने पर इदम् अंश के सदृश होने के कारण रजत का पूर्वसंचित का संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाता है और उसी से रजत का स्मरण-मात्र होता है, न कि रजत का अनुभव होता है। सही तो यह है कि रजत – भ्रम स्थल में इदम् अंश का प्रत्यक्ष और रजतांश का स्मरण यह ज्ञानद्वय होता है। इदम् अंश के प्रत्यक्ष से विरुद्ध स्मरण में परोक्षत्व अंश है। स्मरण से विरुद्ध प्रत्यक्ष में शुक्ति का अंश है। तिमिर आदि दोष से जब-जब दोनों विरुद्ध अंशों का भान नहीं होता,

तब-तब दोनों में विलक्षणता की प्रतीति नहीं होती। इसलिए दोनों ज्ञान एक ही समान भासित होते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार संसार में भ्रम का कोई अस्तित्व नहीं है। प्रभाकर गुरु ने प्रतिपादित किया है कि 'इदम् रजतम्' इस ज्ञान में दो भाग हैं। इस स्थल में इदमंश का प्रत्यक्ष ग्रहण होता है और उसके सादृश से रजतांश का स्मरण होता है। इस तरह उसमें प्रत्यक्ष और स्मरण दो ज्ञान रहते हैं। इदमंश में यह ज्ञान प्रत्यक्ष है, क्योंकि इस पद से निर्दिश्यमान शुक्तिका के साथ चक्षु का सन्निकर्ष हो रहा है। अतः इदम् अंश में ज्ञान प्रत्यक्ष है और यथार्थ भी। 'रजतम्' इस ज्ञान का दूसरा अंश है। यह इदम् ज्ञान से पृथक् और स्मरणात्मक है, जो असन्निहित विषयक है। इसलिए "इदम् रजतम्" यह ज्ञान इदमात्मना प्रत्यक्षात्मक और रजतात्मक है और दोनों ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। यदि 'इदं पश्यामि' और 'रजतं स्मरामि' का भेद ग्रहण हो जाए तो भ्रम का कोई अवसर नहीं रहता।[2] इन्द्रिय आदि के दोष से उन दोनों ज्ञानों के भेद के ग्रहण नहीं होने के कारण इसे अख्याति कहा जाता है। इस ज्ञान में वहाँ गृहीत–ग्रहण के रूप में रजत की स्मृति होने पर भी गृहीत अंश के प्रमोष होने के कारण वहाँ भ्रम होता है। इस तरह वह भ्रमज्ञान दो ज्ञानों का समूह है। इनके मत में ज्ञान स्वतः प्रामाण्य है, किन्तु स्मृतिज्ञान स्वतः प्रामाण्य नहीं है, किन्तु स्मृतिज्ञान स्वतः प्रामाण्य नहीं है, अतएव वहाँ भ्रम की बात आ जाती है।

भामती के ख्याति-विवेचन के प्रसंग में वाचस्पति ने इस अयथार्थ ज्ञान होने को सही नहीं माना है। इदम् के प्रत्यक्ष और रजत के स्मरण से उत्पन्न ज्ञान से ही रजतार्थी की प्रवृत्ति देखी जाती है, अयथार्थ ज्ञान के कारण नहीं यह सर्वथा अनुपयुक्त है। कारण स्पष्ट है कि किसी विवेकी की प्रवृत्ति सिर्फ़ अभीष्ट वस्तु या समीहित वस्तु के साधन के लिए होती है। रजतार्थी की प्रवृत्ति तो सभी सम्भव है, जब समीहित रजत का ज्ञान हो। केवल शुक्ति खण्ड रतार्थी को रजत का अनुभव कराने में असमर्थ है। पुनश्च, शुक्ति खण्ड न तो रजतार्थी का समीहित है और न वह समीहित रजत का साधन है। समीहित के साधन-ज्ञान के बिना किसी बुद्धियुक्त प्राणी की प्रवृत्ति कभी न हो सकती और पुनः स्थिति शुक्ति में ही रजत बुद्धि से मनुष्य की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि रजत ज्ञान उसे होता है। यदि ऐसा कहा जाए कि रजत के स्मरण से ही उसकी प्रवृत्ति होती है, तो भी ठीक नहीं होता। क्योंकि स्मरण अनुभव के परतंत्र होता है। अनुभव जिस देश का है प्रवृत्ति भी उसी देश में होगी। स्मरण अनुभव का अनुकारी होता है। इसलिए अग्रेस्थित शुक्तिका में रजत का अनुभव नहीं हो सकता और इसीलिए रजत के स्मरणमात्र से प्रवृति सम्भव नहीं है।

यदि दूसरा विकल्प यह भी लिया जाए कि पुरः स्थित शुक्ति और स्मृत रजत के भेद का अज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण होता है, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं लगता।

इसका कारण यह है कि किसी चेतन के व्यवहार का कारण ज्ञान ही होता है; अज्ञान नहीं। लौकिक व्यवहार का ज्ञान प्रयुक्त ही सब जगह देखा जाता है। अज्ञान किसी व्यवहार का प्रवर्तक नहीं होता। इसलिए भेद के अज्ञान को प्रवृत्ति का कारण नहीं मान सकते।

मीमांसा मत में यदि यह कहा जाए कि शुक्ति में रजत का व्यवहार आरोपपूर्वक नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष और स्मरण के भेद के अज्ञानपूर्वक है जिससे शुक्ति में रजत का व्यवहार होता है और तभी उसमें मनुष्य की प्रवृत्ति होती है तो यह भी सिद्धान्त कथमपि युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि वैसी स्थिति में रजतार्थी की शुक्ति विषयक प्रवृत्ति नहीं बनती और वह इसलिए कि शुक्ति रजतार्थी का समीहित नहीं है। अन्वयव्यतिरेक से रजत ही रजतार्थी का समीहित है और इससे समीहित जो रजत है, उसी का ज्ञान होना प्रवृत्ति का कारण है, यह मानना होगा। इसलिए प्रकृत स्थल में मीमांसक को रजत का स्मरणात्मक ही ज्ञान होता है। परन्तु यह विचार भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान और इच्छा के समानविषयक सिद्ध होने पर भी इच्छा और प्रवृत्ति का समान विषयत्व नहीं बनता। व्यवहार में तो ऐसा देखा जाता है। — 'जानाति इच्छति ततः प्रवर्तते।' पहले ज्ञान होता है तदनुसार इच्छा और तब प्रवृत्ति। इस तरह ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति इन तीनों का समान विषय होना आवश्यक है। जिस विषय का ज्ञान होगा, इच्छा उसी की होगी और प्रवृत्ति भी वही होगी। निर्दिष्ट स्थल में इच्छा का विषय रजत है जो प्रवृत्ति विषयत्व नहीं है। क्योंकि प्रवृत्ति तो इदम् का अर्थ जो पुरोवर्ती शुक्ति है, उसकी ओर होती है और इस स्थिति में प्रवृत्ति के कारण उसी को ज्ञान और इच्छा का विषय मानना होगा। अन्यथा ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति का समान विषयक नियम खण्डित होता है। और इदम् का अर्थ जो आगे वर्तमान शुक्ति है, वह इच्छा और प्रवृत्ति का विषय तभी है जब उसमें रजत का आरोप माना जाए। इस प्रकार की शुक्ति में रजत के आरोप के बिना प्रवृत्ति सिद्ध ही नहीं हो सकती। यदि मीमांसक यह कहें कि पुरोवर्ती वस्तु रजत भिन्न है, ऐसा ज्ञान नहीं होने के कारण प्रवृत्ति होती है तब तो उन्हीं का सिद्धान्त व्याघातित होता है, क्योंकि पुरोवर्ती वस्तु रजतं है, ऐसा भी ज्ञान नहीं होता और तब तो रजतार्थी की प्रवृत्ति वहाँ बनती ही नहीं। इसकी प्रवृत्ति के लिए शुक्ति में रजत का आरोप मानना ही होगा। चूँकि मीमांसक इसे नहीं मानते, इसलिए इनका अख्यातिविषयक मत युक्तिहीन है।

रामानुज ने भ्रमस्थल में सत्ख्याति के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि ज्ञान का विषय सत् होता है, क्योंकि निर्विशेष वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता —'सर्वं ज्ञानं सत्यं सविशेषविषयं च, निर्विशेषवस्तुनोऽग्रहणत्।'[3] पंजीकरण प्रक्रिया के अनुसार पृथ्वी आदि में सब जगह सब भूत विद्यमान् रहते हैं। अतएव मीमांसकों का अख्यातिवाद ठीक नहीं लगता, क्योकि पंजीकरण के कारण सत्ख्याति मानने पर शुक्ति

में रजतत्व की प्रत्यक्षात्मकता है ही, तब ऐसी स्थिति में स्मरण की कोई बात नहीं है और तब प्रत्यक्ष और स्मरण का भेदाग्रह ही नहीं है।

रामानुज ने प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त स्वीकार किया है। पुनः एक भाग चार भूतों में विभाजित होकर अन्य भूतों में मिला होता है। इस तरह शुक्ति आदि में रजत आदि का अंश वर्तमान रहता है। अतः ज्ञान का विषय रजत होता है और सत् होता है। इस अंश की स्वल्पता के कारण रजत रूप में इसका सर्वथा व्यवहार नहीं होता है। इसलिए इस ज्ञान का अभिधान भ्रम होता है। शुक्त्यंश के भूयस्त्व ज्ञान होने पर उस भ्रम की निवृत्ति होती है। स्पप्न आदि का ज्ञान सत् होता है — तत्तत्कालावसानान् रथादीन् परंपुरुषः सृजति, आदि श्रुति इसमें प्रमाण है।[४]

नयनवर्ती पीतद्रव्य से मिश्रित नेत्ररश्मियाँ जब शंख आदि से संयुक्त होती है तब 'पीतः शंख' यह ज्ञान होता है। वहाँ पीतिमा से अभिभूत होने के कारण शंखगत शुक्लिमा का ग्रहण नहीं होता है। एवमेव जपाकुसुम समीपवर्ती स्फटिकमणि भी रक्त प्रतीत होता है तथा पंचीकरण प्रक्रिया से ही मरीचिका में जलज्ञान सत्य ही होता है — यह उनकी अभिव्यक्ति है। वस्तुतः मरीचिका में जल नहीं है, इसी कारण उसको भ्रम नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें जो जल है वह पिपासा शान्त नहीं कर सकता, इससे इसे भ्रम माना जाता है। उन्होंने आगे इस धारणा को सिद्ध किया है कि अवच्छेदक के बिना दिक्, इस रूप से दूसरे द्रव्य के स्वीकार न करने से दिग् भ्रम भी सत्य ही है। दर्पण में अपने मुख को मनुष्य देखता है वहाँ नेत्र किरणें दर्पण में टकराकर गतिहीन होने के कारण उसके साथ-साथ अपने मुख को ग्रहण कराती है। इसी तरह द्विचन्द्र ज्ञान नयन की तेलोद्गति के कारण होता है। इसलिए सब ज्ञान सत्य है और विशेष विषय के साथ सम्बद्ध है, यह उनका परम सिद्धान्त है।

उपर्युक्त मान्यता के कारण अगर शुक्ति में रजत नहीं रहता तो वहाँ रजत की प्रतीति कभी नहीं होती। परन्तु वहाँ प्रतीति होती है, इसलिए रजत का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। कुछेक लोग जो यह कहते हैं रजत का अस्तित्व प्रतीति क्षण में ही उत्पन्न होता है, वह ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि ऐसा मानने पर संदेह यह होता है कि शुक्ति में रजत उत्पन्न करने की शक्ति (सामग्री), है या नहीं, यदि सामग्री नहीं मानें तो किसी भी अवस्था में रजत उत्पन्न नहीं हो सकता। सामग्री के अभाव में रजत रूप कार्य का अभाव स्वाभाविक है। यदि यह कहा जाए कि वहाँ रजत की उत्पत्ति होती है तो वह भी उचित नहीं क्योंकि दोष की यह प्रकृति है कि दोष के नहीं रहने पर वस्तु के जितने अवयव का सही ज्ञान होता है उससे अधिक अंश का ज्ञान वह करा नहीं सकती। दोषहीन किसी व्यक्ति के पास यदि कोई आए तो उसे अंग प्रत्यंग का ज्ञान जितने अंश में स्पष्ट रूप में होगा, मितिर आदि दोष से आच्छन्न होने पर उसकी अपेक्षा कम अंश का ही ज्ञान होगा। अधिक तो किसी भी

स्थिति मे सम्भव नहीं है दोष नहीं रहने पर जितना ज्ञान होता है दोष के आ जाने पर उतना भी ज्ञान नहीं हो पाता है। इसलिए वास्तविक रूप में शुक्ति के यथार्थ ज्ञान में रजत का बोध नहीं होता, इसलिए दोष भी रजत अंश को उत्पन्न नहीं कर सकता। शुक्ति में रजत की प्रतीति होने के कारण शुक्ति में रजत की उत्पादक-सामग्री की अवश्यम्भाविता मानने पर तो मेरा ही मत संतुष्ट होता है। अन्तर कुछ है तो सिर्फ़ यही कि उस सामग्री से उत्पन्न होने वाला रजत शुक्ति के उत्पत्तिकाल में ही होगा। आपने जो यह कहा है कि प्रतीतिकाल में वह सम्भव नहीं है। अन्य स्थिति यह भी है कि रजत की उत्पादक सामग्री शुक्ति की उत्पादक सामग्री की तुलना में बहुत अल्प है। जिस समय तिमिर दोष से अधिक भी शुक्ति अंश की प्रतीति नहीं होती, उस समय रजत का थोड़ा अंश भी आभासित होने लगता है और जब दोष हट जाता है तो शुक्ति की प्रतीति होने लगती है। उस क्षण में शुक्ति का भी भान नहीं होता, जिस तरह सूर्य की तीव्रता से दृष्टि का प्रतिघात होने पर आकाश में विद्यमान नक्षत्रों का भी भान नहीं होता। भ्रमस्थल में सर्वत्र यही स्थिति रामानुज ने मानी है।[५]

भामतीकार वाचस्पति ने जो यह स्वीकार किया है कि शुक्ति रजत रूप से सत् नहीं है और न उसे असत् ही कह सकते हैं, क्योंकि उसका ज्ञान होता है। परस्पर ज्ञान होने के कारण सदसत् भी नहीं कह सकते, अतः उसे अनिर्वचनीय मानना पड़ता है। रामानुज ने इसका खण्डन किया है। उनका तर्क है कि सत्व के कारण पदार्थ का निर्वचन हो ही जाता है, वैसी स्थिति में उसे अनिर्वचनीय ख्याति शब्द से नहीं कहा जा सकता। परन्तु रामानुज का प्रतिपादन स्वयं तर्करहित और अव्यावहारिक प्रतीत होता है, यद्यपि पंचीकरण प्रक्रिया की आड़ ली गई है। वाचस्पति ने इस सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा है कि यदि निस्तत्व अनुभव का विषय नहीं होता तो मरीचि में जो तोय का अनुभव होता है, उससे क्या मरीचि को तोयरूप से सत् बताकर ही अनुभव का विषय बताया गया है। इसलिए यह सत् ही युक्त नहीं है।

वेदान्तियों ने अनिर्वचनीय ख्याति का प्रतिपादन किया है। शुक्तिका में जहाँ रजत की प्रतीति होती है, वहाँ वह सत् नहीं, क्योंकि परकाल में बाधित होती है। उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतीति विषयक है। अतएव सत्वेन अथवा असत्वेन निर्वचन की अशक्यता के कारण वह रजत अनिर्वचनीय होता है, जो आध्यासिक है। इसलिए भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति में इनकी मान्यता है। इसकी पुष्टि में उपनिषद् वाक्य का 'न तत्र रथाः न रथयोगाः अथः स्थान् रथयोगान् पथः सृजते' का उदाहरण उद्धृत किया जाता है। स्वप्नदशा में न रथ होते हैं न रथयुक्त मार्ग, किन्तु स्वप्न देखनेवाला स्वयं ही रथ और रथयुक्तमार्ग की सृष्टि या रचना कर लेता है। इसी आधार पर वेदान्त में स्वप्न दशा में नवीन आध्यासिक रथ और रथयुक्त मार्ग की सृष्टि या उत्पत्ति मानी जाती है। दूसरी बात यह भी है कि शुक्ति में रजत की

ख्याति और बाध तब तक उत्पन्न नहीं होता जब तक सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति नहीं मानें। स्थिति यह है कि शुक्ति में रजत की प्रतीति जब होती है, तो उसे असत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। सत् भी उसे नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अरजत रूप में उसका बाध हो जाता है परन्तु ख्याति और बाध दोनों का एकत्र समावेश उसी स्थिति में सम्भाव्य है जब उसके अनिर्वचनीयत्व पक्ष को स्वीकार किया जाए। ऐसा नहीं मानने पर तो ख्याति और बाध दोनों अनुपपन्न हो जाते हैं। परिणामस्वरूप अनिर्वचनीयता के सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पड़ता है। सत् और असत् से विलक्षण को अनिर्वचनीय कहते हैं जो माया का ही फल हो सकता है और इसलिए इसका मायामय होना स्थिर हो जाता है।

उपर्युक्त मान्यताओं के बावजूद भी यह मत बेतुका लगता है कि जिसकी सत्ता प्रत्यक्षगोचर है, उसे अनिर्वचनीय कैसे माना जाए।[६] **भामती** में वाचस्पति ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि सत्तामात्र से पदार्थ का सत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता – न प्रकाशमानतामात्रं सत्वम्। सत् पदार्थ तो वह है जिसका तीनों काल में बाध न हो।[७] शुक्ति में रजत की प्रतीति को सत् नहीं कह सकते क्योंकि बाद में 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से उसका बाध हो जाता है और प्रतीति होने से उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता। अतः अनिर्वचनीयता ही एकमात्र मार्ग है। **भामती** में उन्होंने आगे इसे स्पष्ट करते हुए कहा है – तस्मान्न सत्। नचापि सदसत् परस्पर विरोधात् इति अनिर्वाच्यमेव....।[८] चित्सुखाचार्य ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि जो सत्वेन, असत्वेन और सत्-असत् उभयत्वेन विचार का विषय न हो वही अनिर्वचनीय कहा जाता है। जो सत् नहीं है और असत् भी नहीं है सत् असत् उभयरूप भी नहीं है वही अनिर्वचनीय का स्वरूप है।[९]

शुक्ति में रजत का प्रतिभास अध्यास के कारण होता है परन्तु यहाँ यदि यह कहा जाए कि शरीर आदि असत् होने पर निस्तत्व होते हैं वैसी स्थिति में अनुभव के विषय नहीं हो सकते थे, इसलिए ख्याति मानना ही उचित है तो यह सुझाव अविचरित रमणीय है, क्योकि निस्तत्व भी अनुभव के विषय होते हैं। देखा जाता है कि मरीचि तोयरूप से निस्तत्व होने पर भी अनुभव का विषय है। उसे हम किसी तरह सतत्त्व नहीं कह सकते, क्योंकि तोयरूप से मरीचि असत् ही बताया जा सकता है। वस्तुतः वस्तुओं का तत्त्व सत् और असत् भेद से दो तरह का होता है। सत्त्व स्वतः होता है और असत्त्व परतः। वाचस्पति मिश्र ने कहा भी है – स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके। वस्तुनि शक्यते किञ्चिद् रूपं कैश्चित् कदाचन।[१०] ऐसी स्थिति में मरीचि में तोयनिर्भास ज्ञान को यदि तत्त्व का विषय मानेंगे तो वह समीचीन ज्ञान कहलायेगा। परन्तु अब तो न उसमें भ्रान्ति का प्रतिपादन किया जा सकता है और उसका

बाध ही हो सकता है। इसकी संभावना भी असम्भव है, क्योंकि तोय से भिन्न मरीचि को भिन्न रूप में ग्रहण करने पर बाध नहीं हो सकता। उसे तोयरूप में ग्रहण करने पर तो ग्रहीता को भ्रान्त कहा जाएगा ही, साथ ही साथ उसका बाध भी होगा। अतः तोयाभावरूप मरीचि में तोयभाव रूप ज्ञान कभी सत् नहीं हो सकता और वह असत् भी नहीं हो सकता है, क्योंकि 'भावान्तरमभावोऽन्ये न कश्चिद् निरूपणात्' इस सिद्धान्त के अनुसार वस्त्वन्तर को असत् माना गया है और आरोपित रूप कथमपि वस्त्वन्तर नहीं हो सकता। उसे दूसरी वस्तु मानने की स्थिति में यदि मरीचि कहें तो उसमें 'मरीचयः' यही ज्ञान होता, तोय नहीं। यदि गंगादिगतं तोय भावान्तर माना जाय तो 'गंगायां तोयः' यह ज्ञान होता या देश भेद के कारण करने पर 'तोयम्' इतना मात्र ज्ञान होता। इह तोयम् ऐसा ज्ञान तो सम्भव ही नहीं हो सकता। इसलिए अनुभव विषय होने के कारण उसे सत् या असत् कुछ भी नहीं कह सकते। अतः वह अनिर्वाच्य है और भ्रम की स्थिति में देखा जाने वाला पदार्थ अनिर्वचनीय है। इसी की ख्याति होती है।[११]

वेदान्तियों में निम्बार्क सम्प्रदाय सम्यक् ख्यातिवाद के सिद्धान्त को मानता है। आचार्य निर्म्बाक ने **श्रुत्यन्तरसुरद्रुम** में भ्रमस्थल में रामानुज की पद्धति को ही सही बताया है जिसका आधार पंचीकरण प्रक्रिया से सर्वत्र सब भूतों की वर्तमानता है। उन के अनुसार जीव ईश्वर और जड़ में जिस तरह परस्पर भेदभाव है, उसी तरह शुक्ति-रजत की भी स्थिति है। बाज़ार का रजत ही शुक्ति के साथ तादात्म्य के कारण शुक्ति में रजतत्व का आभास कराता है। यह आभास भेदाभेदजन्य नहीं है। एवं रजत की शुक्ति के साथ जो अभेदविषयक बुद्धि है वह भ्रम इसलिए कही जाती है चूँकि वह वस्तुतः भेद विषयक है।

शुक्ति में रजत भ्रम असत् या अनिर्वचनीय नहीं अपितु शुक्तिगत रजतांश के कारण ही वैसी प्रतीति है। परन्तु दोनों के भेद का ज्ञान नहीं रहने से शुक्ति में रजत का भ्रम होता है। शुक्ति ज्ञान का वहाँ अभाव रहता है। ऐसा नहीं मानने पर तो कारण कार्य का सिद्धान्त ही खण्डित हो जाता है, जिससे सबकी सब जगह असिद्धि हो जाएगी।[१२] माधवमुकुन्द ने भ्रम में प्रतीति को आरोपित माना है – एकत्र सतोऽन्यत्र आरोपत्वं भ्रमत्वमिति।[१३] **वेदान्त तत्त्वबोध** में आचार्य रामदेव ने इस ख्याति को सत् हेतुकी मानते हुए कहा है कि भ्रम में दोष आदि का सत्यत्व निर्बाध है।[१४]

परन्तु उपर्युक्त मत जिस दार्शनिक पृष्ठभूति में विषय का प्रतिपादन करता है, वह समीचीन नहीं जँचता। ऐसी स्थिति में सब ख्यातियों का अन्तर्भाव सत्ख्याति में ही होता जाता है। भ्रम दोषादि निमित्त होता है। उसे ही ख्याति कहा जाता है। यदि यह ज्ञान आरोपित होता है तो चाहे वह 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' है अथवा 'तदभाववति

तत्प्रकारकं ज्ञानम्' है और इसलिए उसकी अनिर्वचनीयख्याति अथवा अन्यथाख्याति के रूप में सिद्दि होती है। यदि अनिर्वचनीयता की अनुपादेय माना जाय तो वैसी स्थिति में अन्यथाख्याति तो अपरिहार्य हो जाती है फिर भी आरोप के सामर्थ्य से अन्य का अन्यत्र वर्तमान होना और बाध होने पर ज्ञान रूप का कंथन नहीं होने से व्यावहारिक रूप अनिर्वचनीयता ही अन्ततः उपस्थित होती है।

वल्लभाचार्य से स्वीकृत ख्याति का अन्तर्भाव सत्यख्याति में ही हो जाता है। उनके सिद्धान्त में सब कुछ ब्रह्म का परिणाम है। ब्रह्म स्वरूप, सच्चिदानन्दात्मक है। जीव में आनन्द आवृत है ओर जड का चेतनत्व आवृत होता है। इसलिए आवृतत्व के दूर होने पर किसी भी पदार्थ की अलीकता सिद्ध नहीं की जा सकती। तात्पर्य यह है कि परिणाम दो तरह से होता है। कारण में विकारपूर्वक दूध से दही की तरह पहला और कारणाविकारहेतुरूप दूसरा तथा कल्पतरु के पास आ जाने वाले की इच्छापूर्ति हो जाने पर भी कल्पवृक्ष की अविकारता। इसी प्रकार भ्रान्तिस्थल में शुक्ति ब्रह्म का प्रथम परिणाम है और रजत द्वितीय और इस तरह ब्रह्म का परिणाम होने से रजत सत ही सिद्ध होता है। परन्तु यह मत भी उपयुक्त नहीं होता। क्योंकि नित्य ब्रह्म में परिणामता सम्भव नहीं है। श्रुतियाँ भी इसका विरोध करती हैं। इसलिए उपर्युक्त मत सार्थक नहीं सिद्ध होता।

माध्वाचार्य की सम्मति में ख्याति सत् से उपरक्त अलीक का भान है और साथ ही अधिष्ठान से अतिरिक्त सब कुछ असत् हैं। इसका विश्लेषण पीछे हो चुका है। औचित्यभेदवादियों का सिद्धान्त भी इसी कोटि का है। इन दो मतों में भेद अगर कुछ है तो यही कि माध्वमत में जीव ब्रह्म का भेद है किन्तु दूसरा पक्ष भेदाभेद दोनों मानता है।

जैन दार्शनिक असत्संसर्गख्याति मानते हैं। इनका कहना है कि सामने अवस्थित पदार्थ को मैं रजतत्वरूप में जानता हूँ इस ज्ञान में पुरोवर्ती और रजत में तादात्म्य प्रतीती प्रमाण है। यह तादात्म्य असत् है, पुरोवर्त्ती शुक्ति का रजत के साथ कोई तादात्म्य नहीं है। प्रतीति वहाँ अगर होती है तो वह असत् की ही है। यह सत्य है। असत् का भान नहीं हो सकता फिर भी यहाँ पर सत्व से उपरक्त असत् का भास होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि पदार्थ का भान इन्द्रियादि के सन्निकर्ष से होता है अथवा अनुमान आदि प्रमाण के आधार पर; परन्तु यथार्थता तो यह है कि असत् के भान में दोनों ही विकल्प अयुक्त हैं। इसलिए केवल असत् कदापि प्रतिभासित नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि असत्संसर्ग सत् के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है तो यह भी युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सत् असत् का कहीं भी तादात्म्य सम्भव नहीं हो सकता। संयुक्त होने की अनुपपत्ति और व्याहृत होने से असत् कहीं भी सत् से सम्बद्ध नहीं होता।

विज्ञानभिक्षु आदि सांख्याचार्य ख्याति के विषय में से सदसत्खयातिवाद के सिद्धान्त को मानते हैं।[१५] सांख्यमत में बाह्य जगत का अनुभव बुद्धि वृत्ति के द्वारा है। बौद्ध दर्शन के विज्ञानवादी बाह्यार्थ की सत्ता नहीं मानते परन्तु सांख्य में बाह्य पदार्थ की सत्ता को ज्ञान के समान ही स्वीकार किया गया है। अनका कहना है कि जहाँ बुद्धिगत पदार्थ के रूप में और बाह्य जगत में वर्तमान पदार्थ के रूप में एकाकारता हो वहीं ज्ञान सत्य है। भ्रमस्थल में न्याय वेदान्त शून्यपाद आदि के सिद्धान्तों को दोषपूर्ण बताते हुए सांख्य सूत्र ने अनकी अनुपादेयता सिद्ध की है नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात्, नानिर्वचनीयस्य तदभावात् न सतो बाधदर्शनात्। नासतः स्थानं नृशृंगवत्।[१६] इसलिए इनकी धारणा है कि शुक्ति के दर्शन में जहाँ रजत की प्रतीति होती है उस इदं रजतम् इस ज्ञान में इदन्तावगाही ज्ञान सत् है। परन्तु रजत अंश का ज्ञान असत् है। इसलिए भ्रम का ज्ञान आलम्बन सत् और असत् दोनों पदार्थ हैं और तब सदसत्ख्याति इनके मत में बनती है। विज्ञानभिक्षु ने दूसरे ढंग से इस की व्याख्या करते हुए कहा है कि पदार्थ का नित्य स्वरूप होने के कारण उनका बाध नहीं होता। परन्तु जब वह चैतन्य में आरोपित होता है तो संसर्ग से उसका बाध हो जाता है।[१७] उदाहरण के लिए रक्तिमा बिम्बरूप में सत् परन्तु प्रतिबिम्ब रूप से स्फटिक में असत् है। अथवा हृदयस्थ रजत सद्रूप है और शुक्तिका में आरोपित रजत् असत्।[१८] परन्तु सदसत्ख्याति में असत् की ज्ञानता समीचीन नहीं है। अगर असद्विषयक ज्ञान को स्वीकार किया ही जाय तो वैसी स्थिति में आकाश कुसुम के ज्ञान का प्रसंग भी आ जायेगा। इसलिए असत् की ख्याति असम्भव है और इदममंश में भ्रान्ति है ही नहीं। आचार्य मण्डन मिश्र ने इसका खण्डन करते हुए कहा भी है– **एकान्तसत्वे का भ्रान्तिरसत्वे किं प्रकाशनम्।**[१९]

नैयायिक भ्रान्ति निरूपण में अन्यथा ख्याति मानते हैं और भ्रम को विषयीमूलक स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि भ्रान्ति में पदार्थ का मिथ्याज्ञान होता है, उससे पदार्थ की यथार्थता में भेद नहीं होता। शुक्ति में समानता के कारण प्रत्यक्ष रूप अनुभव होता है। इस तरह पदार्थ का स्वरूपतः बोध न होकर अन्यथा बोध होने के कारण अन्यथाख्याति होती है। ज्ञान में परतः प्रामाण्य मानने से यहाँ प्रवृत्ति संवित् को प्रामाण्य का निकष माना जाता है और शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान से सफल प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः इस ज्ञान को अयथार्थ अतएव भ्रान्ति कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र ने शांकरभाष्य में वर्णित इस मत को 'अन्ये तु यत्रं यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनाचक्षते – उद्धृत करते हुए लिखा है कि जिस शुक्तिका आदि में रजत आदि का अध्यास होता है, वहाँ शुक्ति आदि विरुद्ध रजतत्व धर्म की कल्पना होती है। इस तरह 'इदं रतजम्' आदि उनमें ज्ञान होता है।

मीमांसक द्वारा प्रतिपादित अख्यातिवाद को मानने पर वैसे ज्ञान से कथमपि प्रवृत्ति का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता । मीमांसक स्वतः प्रमाण्यवादी है। प्रभाकर का

मत है कि वहाँ भी ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य है फिर भी स्मृति के कारण उस ज्ञान को मिथ्या बताया जाता है उनका कहना है कि 'इदं रजतम्' में इदमंश का प्रत्यक्ष ग्रहण होता है और शुक्ति के गुण की समानता के करण शुक्ति को देखकर रजत का स्मरण हो आता है। जब दृष्टा प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति ज्ञान को भूल जाता है तब इस तरह की भ्रान्ति उसे होती है। गृहीत का ग्रहण जहाँ होता है उसे स्मृति कहते हैं। किन्तु दोष के कारण वहाँ गृहीतत्व अंश का प्रमोष हो जाता है इसलिए दोनों ज्ञान के भिन्न रहने पर भी भेद का ग्रहण नहीं होता है जिससे इदं रजतम् इस रूप में भिन्न भी वे अभेद व्यवहार और समानाधिकरण्य व्यपदेश के प्रवर्तक बनते हैं। पीतः शंखः आदि स्थलों पर तो नयनरश्मि में रहने वाले स्वच्छ पीतद्रव्य के पीतत्व का इसी तरह ग्रहण और पीत का अग्रहण होता है तथा दोष के करण शुक्लगुण रहित स्वरूपमात्र से शंख भी गृहीत होता है, जिससे वैसा बोध होता है।

इस प्रकार वहाँ भेद ग्रहण नहीं करने के कारण अभेद व्यवहार होता है और 'नेदं रजतम्' इससे तावन्मात्र से उसे बाधित बताया जाता है ओर वैसी स्थिति में ही भ्रान्ति की संज्ञा उसे दी जाती है। इसलिए उनके मत में यथार्थ ही ज्ञान होता है भिन्न तरह की ख्याति नहीं होती।

वाचस्पति अख्यातिवाद की उपर्युक्त धारणा से सहमत नहीं हैं अन्यथाख्याति के समर्थन में उनका कहना है कि पुरोवर्त्ती द्रव्य में 'रजतम् इदम्' इस ज्ञान के बाद रजतार्थी की प्रवृत्ति होती है तथा पुरोवर्त्ती और रजत में समानाधिकरण्य बताया जाता है यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। इस तरह चेतन के व्यवहार शुक्तिकात्व अनालंबन है, इसे मान लेने पर भी पुरःस्थित सितभास्वर कोई द्रव्य ही 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का आलम्बन नहीं है ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसका कारण स्पष्ट है कि 'रजतम् इदम्' इस तरह वहाँ अनुभव करता हुआ अनुभवकर्त्ता अंगुली से पुरोवर्त्ती का ही निर्देश करता है, जिससे मानना पड़ेगा कि पुरोवर्त्ती वस्तु ही उस ज्ञान का आलंबन है।

समीचीन ज्ञान के कारण से मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता ऐसा भी नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि दुष्ट कारणों में औत्सर्गिक कार्य के प्रतिबंधक होने पर कार्यान्तर के उपजनन का सामर्थ्य देखा जाता है। दावाग्नि से दग्ध वेत्रबीज कदली काण्ड का जनक होता है तथा भस्मक रोग से पीडित औदर्यतेज बहुत अन्न को पचाने वाला बन जाता है। याथार्थानुमान से विभ्रम की सिद्धि भी इसी कारण नहीं कराई जा सकती क्योंकि प्रत्यक्ष से बाध के कारण अनुमान का विषय अपहृत रहेगा। अतः वैसा अनुमान वहाँ अग्नि के अनुष्णत्व के अनुमान के समान अनुमानाभास ही हो सकेगा। यह यथार्थज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता। स्वतः प्रामाण्यप्रतिपादक मीमांसको का यह आक्षेप भी युक्त नहीं हो सकता कि मिथ्या प्रत्यय में अन्यथाख्याति मानने पर सब प्रमाणों ही उस व्यभिचार के कारण अनास्था हो जायेगी। क्योंकि व्यभिचरित मात्र

से अप्रामाण्य का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता है। देखा जाता है कि जल के भास्वर शुक्ल होने पर भी चक्षु के द्वारा नील जल या सितजल ऐसा व्यभिचरित ज्ञान होता है, फिर भी बोधक मात्र होने से चक्षु के प्रामाण्य का व्याघात नहीं होता है।

वाचस्पति मिश्र ने **न्यायकणिका** में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन विस्तृत रूप में किया है। ज्ञान में परतः प्रामाण्य मानना भी नैयायिकों का ठीक है और प्रामाण्य का निकष प्रयोजन के लिए प्रवृत्ति ही है। उसे सफल होना चाहिए। अतः मीमांसकों का अख्याति का सिद्धान्त ठीक नहीं है। आत्मख्याति मानने पर भ्रम की गुंजाईश ही नहीं और असत्ख्याति तो कल्पनाहीन है। इसलिए अन्यथाख्यातिवाद ही उचित है। पूर्वानुभूत रजत का वर्तमान में ज्ञान लक्षण प्रत्यासक्ति द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष होने से वैसी ख्याति के प्रतिपादन में असंगति भी नहीं अवगत होती है। इन्हीं कारणों से वाचस्पति मिश्र ने सिद्धान्त की तरह अन्ततः नैयायिक के मत का समर्थन किया है। ऐसा प्रतीत होता है।

ख्यातिविषयक उपर्युक्त धारणाओं के पर्यालोचन से यह स्पष्ट होता है कि अख्यातिवादी मीमांसक और अनिर्वचनीय ख्यातिवादी अद्वैत वेदान्ती के सिद्धान्त ही प्रमुखरूप से विवादशील हैं। सांख्य तो मीमांसकमत का अनुकरण करता है। विपर्ययज्ञान में शुक्ति और रजत के जो शुक्ल भास्वरत्व आदि साधारण धर्म है, उन्हीं का पहले प्रत्यय होता है। इस प्रत्यक्षीकरण के चलते रजत स्मृति में उतर आता है बाद में पुरोवर्ती इदन्तारूप में उत्पन्न शुक्ति और स्मृति मे प्रादुर्भूत रजत इन दोनों में शुक्त्यंश के अज्ञान और गृहित रजत के ज्ञान में समानता होने से भेद का अप्रत्यक्षीकरण हो जाता है। इस प्रकार इदन्तारूप में प्रत्यक्षीकृत शुक्ति और स्मृत रजत दोनों संवित् में मिश्रित होते हैं और तब 'इदं रजतम्' इस तरह का ज्ञान होता हैं।

यह ज्ञान इतर व्यावहारिक ज्ञान की ही तरह प्रामाणिक व्यापार और कार्य में समर्थ है। मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित मिथ्याज्ञानविषयक यह प्रक्रिया रजत से सर्वथा भिन्न शुक्ति में भी धर्म की समानता के कारण दोनों के तत्द्धर्म की अनुद्भावना से अख्याति कहलाती है। दूसरी ओर अद्वैतवेदान्ती इस अख्याति का खण्डन करके उसके स्थान पर अनिर्वचनीय ख्याति मानते हैं। कल्पित रजत में अन्य रजत की तरह व्यावहारिक सत् नहीं रहने से तथा शशशृंगवत् तुच्छ मानने के कारण यह संवित् अनिर्वचनीय होती है। ठीक इसी तरह का उदाहरण स्वप्न प्रपंच ज्ञान हैं जो शुक्ति रजत के विपर्ययज्ञान के सदृश हैं। दोनों ही स्थल में प्रमेय वस्तु अविद्या के परिणाम हैं अविद्याप्रवणत्व प्रमाण हैं, अविद्या प्रमात्री है तथा वस्तु के आकार में विराजमान अविद्या ही प्रमा है। वाचस्पति मिश्र ने ख्यातिवाद में इसी सिद्धान्त को माना है।

१. **ब्रह्मसूत्र**– अध्यासभाष्य।

२. तद् विवेकाग्रह निबन्धनो भ्रमः। **ब्रह्मसूत्र** – अध्यासभाष्य।

३. **यतीन्द्रमतदीपीका**–पृ.६

४. **वृहदराण्यको**. – ४/३/१०

५. यथार्थं सर्वविज्ञानामिति वेदाविदां मतम्। **श्रीभाष्य** – अविद्याभंग पृ. २६

६. तस्मान्न सत् नापि सदसत् परस्परविरोधात् इति अनिर्वाच्यमेव आरोपणीयम् मरीचिषु तोयमास्थेयम्–अध्यासभाष्य पर **भामती**।

७. **भामती** – पृ. २१

८. **वही** – पृ. २३

९. प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं नयेत्।

गाहते तदनिर्वाप्यमाहुर्वेदान्तवादिनः– चित्सुखाचार्य।

१०. **भामती** – पृ. ३०

११. अनिवर्चनीय एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ लोक की तरह अवर्णनीय नहीं है। जो वस्तु सत् भी नहीं कही जा सके और असत् ही नहीं उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। वह सदसद् विलक्षण प्रातिभासिक है। ब्रह्म को वेदान्ती सत् मानते है और माया को अनिर्वचनीय। भ्रान्तज्ञान में जो भी पदार्थ दीखता है वह अनिर्वचनीय माया या अविद्या का कार्य अनिर्वचनीय ही होता है। स्वप्न के कार्य भी इसी प्रकृति के हैं। भामतीकार ने अध्यास के कारण होने वाले उस भ्रमात्मक ज्ञान की उपसंहित में लिखा है – सचायम् एवं लक्षण-कोऽध्यासो निर्वचनीय इति।

१२. **श्रुत्यन्तरसुद्रम्** – पृ. २५०, १/१/१

१३. **वेदान्तकौस्तुभ** – पृ. २५, १/१/१

१४. **वेदान्ततत्त्वबोध** – पृ. १०१, १०२, मद्रास १६५८

१५. **पञ्चपादिका** – पृ. १०१, १०२, मद्रास, १६५८

१६. **सांख्यसूत्र** – ५/५२–५५

१७. स्वरूपेणाबाधः सर्ववस्तूनां नित्यत्वात्। संसर्गतस्तु बाधः सर्ववस्तूनां चैतन्येस्ति। **विज्ञानभि०** ५/५५

१८. **सांख्यप्रवचनभाष्य** ५/५५

१९. **विभ्रमविवेक** – पृ. ५.

7

भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप और वाचस्पति की धारणा

दर्शन का उद्देश्य निरतिशय सुख की प्राप्ति और निरतिशयः दुःख की हानि है। उसके मूल आधार पर शास्त्र का विवेचन प्रारम्भ होता है। अतः स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आनन्दात्मक अनुभूति का जो लाभ करता है उसका स्वरूप क्या है। भिन्न-भिन्न दार्शनिक इस तथ्य को भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट करते हैं। परन्तु इतना तो विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि ज्ञान के विकास के साथ-साथ चिंतन की प्रक्रिया में भी सूक्ष्मता आ जाती है।

चार्वाक् दर्शन में आत्मा प्रियतम और अपरतन्त्र है। यह चैतन्ययुक्त और कर्म का सम्पादक है जो पृथ्वी आदि भौतिक संघातों से उत्पन्न होकर देह के आकार में परिणत है। परन्तु इसका स्रोत भिन्न-भिन्न रूपों से है। प्रभाव और मूल्य की दृष्टि से चार्वाक् में पहले धन को ही परमतत्त्व माना गया है क्योंकि यही सब जगह व्याप्त होकर सभी कर्म को विकसित करता है। धन के नष्ट होने से सुखनाश और शोक लाभ होता है तथा धन प्राप्ति से सुखलाभ एवं शोकनाश होता है। इससे आत्मा में प्रसन्नता आती है। अतः धन की आत्मता चार्वाक् की प्रारम्भिक धारणा है। श्रुति भी इसमें प्रमाण है – भगवान् गौतम ! वित्तस्य वरं वृणीथाः।[1] **बृहदारण्यक उपनिषद्** में धन को पृथ्वी पर सबसे समर्थ ओर सर्वव्यापी शक्ति के रूप में बताया गया है।[2]

परन्तु धन के आत्मत्व में चैतन्य का अभाव होने के कारण चार्वाक् का एक पक्ष पुत्र को आत्मा मानता है। **कौषितकी ब्राह्मणोपनिषद्** में कहा गया है – 'आत्मन्, त्वं पुत्रः।[3] वह पुत्रात्मा तेजस्वरूप है। पुत्र के पुष्ट होने पर स्वयं की पुष्टि और पुत्रनाश होने पर स्वनाश या दुःख होने पर स्वयं दुःखी होना आदि उदाहरण इस मत के पोषक हैं। इस सिद्धान्त की उक्ति भी है – पुत्र एवाहमिति। परन्तु किसी आकस्मिक आपत्ति के उपस्थित हो जाने पर अथवा घर में आग लग जाने पर पुत्र आदि सबको छोड़ कर व्यक्ति भाग जाता है और यह स्थूल शरीर अपनी रक्षा के लिए बाहर भाग

आता है। इससे पुत्र की अपेक्षा इसी शरीर में मोहाधिक्य व्यवहारतः प्रतीत होता है। अनुभव भी इसी तरह का होता है 'अहं स्थूलः' 'अहं कृशः' इत्यादि। चैतन्य और क्रिया भी इसी शरीर में होते हैं। इसलिए चैतन्य विशिष्ट काय ही आत्मा है, ऐसी धारणा चार्वाक् की धीरे-धीरे विकसित होती है।

यद्यपि देहात्मवाद से शरीर की ही आत्मता सिद्ध होती है फिर भी शरीर का नियामक तो इन्द्रिय समूह है। इन्द्रियाँ कार्य भी करती हैं। इस नियम पर संदेह भी नहीं किया जा सकता क्योंकि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण बतलाती हैं – ते ह प्राण प्रजापतिं पितरं प्रेत्य ऊचुः।[४] अनुभव में इसी तरह की बात देखी जाती है। काणोहम् बधिरोहम् आदि इसके निदर्शन हैं। सुषुप्ति की अवस्था में शरीर के चेष्टाहीन होने पर इन्द्रिय व्यापार विरत हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं। परन्तु यहाँ सन्देह होता है कि इन्द्रियों की संख्या मन सहित ग्यारह है तो क्या प्रत्येक इन्द्रियाँ अलग-अलग आत्मा हैं या मिलकर। इसका उत्तर यह है कि सभी इन्द्रियाँ प्राण के अधीन है। बिना प्राणों के संसर्ग से इनकी कार्यशीलता असम्भव है। दूसरी बात यह है कि प्राण के चले जाने पर इनकी कोई शक्ति नहीं रहती। इसलिए प्राण की ही प्राधानता होती है – अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।[५]

वाचस्पति ने चार्वाक् दर्शन के आत्मसंबन्धी विश्लेषण को अयुक्त सिद्ध किया है, क्योंकि इसका धरातल भौतिक है, जिसमें कभी नित्यता का सद्भाव नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा यदि आकाश रहित चार द्रव्यों के संघात से उत्पन्न होती है तो दूध से दही के परिणाम की तरह इन द्रव्यों का परिणमन क्यों नहीं होता है। दूध और दही में परिणाम होने पर भी रूपगत अभिन्नता और प्रतीति तो रहती ही है परन्तु, आत्मा में वैसी स्थिति कहाँ दृष्टिगत होती है। यदि यह कहा जाए कि इनके संयोग से एक नया तत्त्व ही उत्पन्न हो जाता है तो यह कहाँ देखा जाता है कि हजार घट भी मिलकर पटरूप हो जाये।[६] इसलिए प्रत्येक भूत के निराकरण हो जाने से देह प्राणात्मवाद की धारणा भी खण्डित हो जाती है। अगर इसे माना भी जाये तो भी तो चैतन्य का अभाव ही रह जाता है यदि चैतन्य को पान और चूना आदि के संघात से उत्पन्न स्वीकार किया जाए तो संघात करने वाला चैतन्य फिर पहले कहाँ से आयेगा। पुनश्च चेतना के अभाव में वाद में चैतन्य को ग्रहण कौन करेगा? इसलिए नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः' की आत्मता सिद्ध नहीं हो सकती।[७]

जैन दर्शन में जीव को व्यापक नहीं माना जाता, किन्तु आत्मा के परिमाण को देहतुल्य बताया जाता है। आत्मा का आकार देह के आकार के अनुरूप होता है। यथा चींटी और हाथी के देह में आत्मा का छोटा और बड़ा होना। इसमें चैतन्य स्वाभाविक है। संसार की दशा में इसी आत्मा को जीव कहा गया है।

आत्मविषयक जैन का सिद्धान्त उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। यदि आत्मा को देह– परिमाणवत् माना जाये तो देह की सावयवता की तरह आत्मा को भी सावय

स्वीकार करना पडेगा। और इस तरह जीव को अनित्य मानना पड़ेगा। इससे कृतहान और अकृताभ्यागम दोष आपतित हो जाता है। इससे बचने के लिए यदि आत्मा को अवयवों का संघात मानें तो प्रश्न यह होता है कि प्रत्येक अवयव चैतन्य है अथवा संघात? यदि प्रत्येक अवयव को चैतन्य बताया जाये तो अनेक चेतन में सामर्थ्य बराबर हो जायेगा और इससे परस्पर वैमनस्य होना शुरू होगा। परिणामतः आत्मा में खींचातानी होने लगेगी जिससे शरीर ही बिखर जायेगा। यदि संघात को चैतन्य मानें तो वहाँ संघात के स्वरूप की जानकारी करनी पड़ेगी कि वह संधात शरीरोपाधिक है या स्वाभाविक अथवा यादृच्छिक? यदि शरीरोपाधिक माना जाये तो अंगुली आदि छोटे अवयवों के छिन्न होने पर भी जीव का अवयव भी छिन्न होगा जिससे चेतनत्व ही नष्ठ हो जायेगा। परन्तु यह अभीष्ट नहीं है। यदि संघात की स्वाभाविकता स्वीकार की जाये तो किसी स्वल्प अवयव का भी विच्छेद नहीं हो सकेगा और अवयव सदा संश्लिष्ठ रहेंगे। परन्तु ऐसा मानने पर तो बाल्य, युवा आदि अवस्था के भेद से शरीर में भेद का जैनी सिद्धान्त ही खण्डित हो जायेगा। यदि संघात को आकस्मिक या यादृच्छिक माना जाये तो भी काम नहीं चलता, क्योंकि संश्लिष्ट के समान विश्लेष को भी यादृच्छिक मानना होगा और इससे सुख से बैठा हुआ आदमी भी अकस्मात अचेतन हो जायेगा। इसलिए जीव को शरीर-परिमाण मानना युक्त नहीं है। ऐसा मानने पर आत्मा में नित्यत्व और चेतनत्व स्वाभाविक रूप में नहीं सिद्ध हो सकता।[८]

बौद्धदर्शन के चार सम्प्रदायों में एक वैभाषिक पदार्थ की बाह्यसत्ता को ही प्रत्यक्ष करता है, अतः आत्मा जैसे आन्तरिक तत्त्व के विश्लेषण में सत् गति नाकामयाब हो जाती है। परन्तु संसार की सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष सत्तागत ही नहीं है, ऐसा व्यवहार से प्रतीत होता है। इसी के समाधान में सौत्रान्तिक जो बौद्धदर्शन का अन्य भेद है बाह्य के अतिरिक्त मानसिक सत्ता को भी स्वीकार करता है जिसका ज्ञान अनुमानजन्य है। प्रत्यक्ष के ज्ञान में विषय चित्त इन्द्रिय और उसके सहकारी से मन में जो प्रत्यय उत्पन्न होता है, वही आत्मा का प्रतिपादक है। इनके मत में आत्मा में चैतन्य है। बाह्य वस्तुएँ मन में वर्तमान विचारो के प्रतिनिधि मात्र हैं, क्योंकि मानसिक प्रत्यक्ष से ही मन बाह्य पदार्थों का अनुमान करता है। निर्वाण की स्थिति में क्लेशाभाव और कषायराहित्य होता है जिसका स्वरूप दीपक के निर्वाण की तरह है।[९] परन्तु प्रत्यक्ष का भी जब पहले मन में अनुमान होता है तब तो वस्तुतः एक मन ही अवशिष्ट रहता है और सम्पूर्ण प्रत्यक्षीकृत बाह्य पदार्थ मन्त्र के पदार्थ की तरह सहसा विलीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा के अस्तित्व में भी सन्देह हो जाता है।

विचार परम्परा की उपर्युक्त शृंखला में एक ऐसा प्रसंग उपस्थित हो आता है जिसमें बाह्य जगत् की सत्ता अन्तर्गत में आकर आश्रित हो जाती है। इस स्थिति में मन से बाहर कुछ भी नहीं बचता। मन ने जिसे ग्रहण किया वह है जिसे नहीं ग्रहण किया वह नहीं है, यही इसका मूलरूप है। योगाचार इसी सिद्धान्त का प्रतिपादक

है। इनके मन में बुद्धि ही प्रत्यक्ष चैतन्य है। मन और इन्द्रियाँ इसके उपकारक हैं। जीव शब्द वाच्य ही है क्योंकि यहीं कर्त्ता और भोक्ता प्रतीत होता है। यह चित्त ही एकमात्र सत् है।

आत्मा को जिस रूप में योगाचार में लिया गया है उसमें व्यावहारिकता नहीं टिकती। यहाँ अहम् प्रतीत का कोई मुख्य विषय नहीं होता देखा तो यह जाता है कि 'जो मैं सोया था वही मैं इस समय जगा'। इस प्रकार के अनुभव में अहम् से किसी स्थिर वस्तु का बोध होता है और क्षणिकवादी बौद्धपक्ष में स्थिरता का प्रश्न ही नहीं है। क्षणिक होने से अस्थिर में स्थिरत्व अगर माना जाये तो यह भ्रम या अध्यास ही होगा। यदि विज्ञान सन्तान को ही आत्मा मानें जिससे क्षणिकता का दोष समाप्त हो जाये तो भी युक्तता नहीं प्रतीत होती। क्योंकि यहाँ प्रश्न उठता है कि संतान संतानी से भिन्न होता या अभिन्न भिन्न अगर मानें तो इनका अपसिद्धान्त होता है, क्योंकि विज्ञान से भिन्न इनके यहाँ कुछ भी नहीं है। यदि अभिन्न कहें तो उपर्युक्त दोष गलेपतित होता है। ऐसी स्थिति में अहम् स्थूलः में अहंत्व की प्रतीति को औपचारिक मानना ही पड़ेगा। परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि औपचारिकता में भेद का भान होना आवश्यक है और भेद यहाँ माना ही नहीं जा सकता।

माध्यमिक शून्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। विज्ञानवाद में अनेक आत्मा विज्ञानरूप में उत्पन्न होकर जगत् में विक्षोभ पैदा करेंगे इसलिए इस विघ्न को उपरत करने के लिए शून्यवाद को यहाँ स्वीकार किया जाता है और सहसा आनन्त्य का शून्य में समाधान हो जाता है। यहाँ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन सभी स्वप्न की तरह अलीक और भ्रम हैं। इस सिद्धान्त को अप्रामाणिक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। असदेवेदमग्र आसीत्।[10] व्यवहार में भी सुषुप्ति काल में आत्मा का असत्त्व देखा जाता है। सोकर उठने पर 'नाहमासम्' की उक्ति से आत्मभाव का ही अनुभव होता है और इस तरह आत्मा के अभाव के कारण सत्तामात्र का ही अभाव सिद्ध होता है।

वाचस्पति ने माध्यमिक के इस आत्मवाद सिद्धान्त का **भामती** में खण्डन किया है। उनका कहना है कि शून्य पक्ष को स्वीकार करने पर दो तत्त्व को मानना आवश्यक होगा – ज्ञाता और ज्ञेय, जिससे शून्य का प्रतिपादन हो सके। परन्तु यह शून्यवाद में सम्भव ही नहीं है। और वैसी स्थिति में तत्त्व का बोध नहीं हो सकता – शून्य पक्षे सर्वोपाख्यारहितमपदार्थः कथं तत्त्वयोर्गोचरत्वम्।[11] शून्य से किसी अस्तित्व का बोध नहीं हो सकता, अतः चेतन की असत्ता से यह दर्शन असमीचीन हो जाता है।

न्याय वैशेषिक वस्तुवादी दर्शन है। इसलिए आत्मा को एक द्रव्य के रूप में यहाँ उपस्थित किया गया है। इसका गुण सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान है।[12] **प्रशस्तपादभाष्य** में भी इसके गुणों को कुछ और विस्तृत बताया गया है जिस में धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, संयोग, वियोग आदि आते हैं। आत्मा न्याय में स्वरूपतः

चेतन नहीं है। चेतना उसका आगन्तुक गुण है तो मन, इन्द्रियाँ और अर्थ के सम्बन्ध में होता है। सुषुप्ति और मोक्ष की अवस्था में चैतन्य शून्य आत्मा इस मत में वर्णित हैं। यही इसका स्वाभाविक रूप है। शरीर से इसका भेद है। भोग स्थान होने के कारण शरीर आत्मा के अधीन है। शरीर की तरह न तो यह परिवर्तनशील है और न अनित्य ही, अपितु अपरिवर्तनीय तथा नित्य है।

कणाद ने मन को आत्मा से भिन्न बताया है। यह बिन्दु है और आकाश की तरह महान् भी[13] यह सावयव नहीं है क्योंकि वैसी स्थिति में यह अनित्य हो जाता – ईश्वर भी इसका नाश नहीं कर सकता। नित्य आत्मा में कुछ इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि अनित्य गुण भी हैं। आत्मा अनेक शरीर के कारण अनेक है। यह पूर्वजन्म और परजन्म के क्रम में भी रहता है जिसमें स्मृति बनी रहती है। अन्यथा नवजात शिशु द्वारा स्तनपान सम्भव नहीं है। वाचस्पति ने **भामती** में इसका समर्थन भी किया है –[14]

जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः
तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यस्यते नरः।

वाचस्पति ने न्याय वैशेषिक की आत्मा में चैतन्याभाव के पक्ष की अस्वीकृति से अनास्था प्रकट की है।

सांख्य और योग में आत्मा पुरुष है। यह स्वरूपतः अनादि सूक्ष्म चेतन नित्य, कूटस्थ निर्गुण आदि लक्षणों वाला है। यही आत्मा है जो विषयी तथा ज्ञाता है।[15] सुषुप्ति, जागृति और स्वप्नावस्था में अपरिवर्तित रूप से इसकी विद्यमानता है। वेदों की आत्मा की तरह इसमें आनन्दरूपता सांख्य-योग में नहीं मानी गई है क्योंकि वैसी स्थिति में दुःखानुभूति को भी सापेक्ष्य सिद्धान्त से इसमें स्वीकार करना पडेगा जो सुख दुःख का अनुभव करे वह सत्ता विमुक्त नहीं हो सकती। स्वतंत्रता की स्थिति में यह चैतन्यस्वरूप है और अहंकार के कारण अपने को कर्त्ता, भोक्ता मानने पर यह बद्ध हो जाता है। तत्त्वज्ञान से विवेकख्याति के कारण मोक्ष प्राप्त किया हुआ पुरुष मुक्त कहलाता है।

बद्ध पुरुष जीवात्मा है। इसकी संख्या अनेक है। एक ही समय में भिन्न कार्यों के सम्पादित होने से इसको अनेक माना जाता है। पुरुष बहुत्ववाद की सिद्धि **सांख्यकारिका** में बहुत तर्कयुक्त ढंग से की गई है।[16] सृष्टि की स्थिति में अचेतन प्रकृति उपादान कारण होती है। परन्तु प्रधान की अचेतनता से जगत में जड़ता का प्रसंग आ जाता है यदि चैतन्य पुरुष के संयोग से माना जाये तो मुक्ति की अवस्था में प्रकृति तो जड़ ही रह जाती है। उधर मुक्त पुरुषों की अनेकता से एकत्व भी नहीं बनता और अव्यवस्था हो जाती है। विवेकख्याति के सिद्धान्त से बद्ध पुरुष तो मुक्त हो भी जाये, परन्तु बेचारी जड़ प्रकृति अमुक्त ही रहेगी। अतः आत्मविषयक एक पक्षी यह सिद्धान्त बहुत तर्कयुक्त नहीं है।

पूर्वमीमांसकों में आत्मा की यथार्थ सत्ता के प्रतिपादन में महर्षि जैमिनि की दृढ़ युक्ति नहीं है। उन्होंने वेदान्त की युक्तियों को ही सामान्यतः स्वीकार कर लिया है। भाष्यकार शबरस्वामी भी इसी का समर्थन करते हैं। बाद में मीमांसकों ने न्याय दर्शन की तरह आत्मा को शरीर से भिन्न बताया जो एक द्रव्य है। वह आत्मा, जीवात्मा, शरीर-भिन्न, जीवनमरण के बंधन से मुक्त और परलोकगामी है इसका आधार वाक्य 'यजमानः स्वर्गलोकं याति' है। यजमान का शरीर तो स्वर्गलोक जा नहीं सकता इसलिए 'यजमान' का तात्पर्य आत्मा से है।[१७] यह विभु है क्योंकि 'अहम्' रूप में इसकी सर्वत्र वर्तमानता है। अनुभव की दृष्टि से यद्यपि यह आत्मा भिन्न-भिन्न शरीर में रहने के कारण अनेक प्रतीत होती है, परन्तु है यह एक ही। अनेकता के कारण ही इसका बन्धन और मोक्ष होता है। यह देश और काल से अपरिच्छिन्न शुद्ध ज्ञान स्वरूप और ज्ञाता है।[१८]

प्रभाकर के मत में आत्मा में ज्ञानाभाव है। यह ज्ञान से बोधगम्य है। 'अहम्' इस ज्ञान से इसकी सर्वत्र प्रतीति होती है फिर भी यह स्वयं प्रकाश नहीं है। जीवात्मा भोक्ता है, शरीर भोगायतन है, भोग के साधन इन्द्रियाँ हैं और सुख-दुख पृथ्वी आदि भोग्य हैं। जीव, शरीर, इन्द्रिय, भोग्य और ज्ञाता इन्हीं पाँच के सद्भाव से ज्ञान होता है और सम्पूर्ण जगत इसी में समवेत है। अकेले जीवात्मा में अज्ञान है जिसकी पुष्टि 'अहम् अज्ञानी' इस युक्ति से होती है। कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा अज्ञानोपहित चैतन्य है। सुषुप्ति में व्यापारहीन इन्द्रियाँ ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकती हैं, अतः सोकर उठने के बाद 'सुखमहम् अस्वाप्सम्' न किञ्चिदवेदिषम्' यह परामर्श ठीक नहीं है। परन्तु ऐसा देखा जाता है, इसलिए किसी अन्य के अभाव के कारण अज्ञानोपहित चैतन्य आत्मा है, यह सिद्ध होता है।

कुमारिल भट्ट की आत्मा न्यायवैशेषिक की आत्मा के समीप है, परन्तु थोड़ा वैशिष्ट्य के साथ। दोनों में आत्मा स्वरूपतः जड़ है, लेकिन कुमारिल के सिद्धान्त में चैतन्य भी उसमें विद्यमान है जागृतावस्था में वह बोधस्वरूप है और सुप्तावस्था में बोधहीन। प्रभाकर आत्मा की जड़ता स्वीकार करते हुए भी उसमें स्वयं प्रकाशता मानते हैं। वाचस्पति ने इन दोनों धारणाओं को अयुक्त बताया है क्योंकि मीमांसा की आत्मा मुक्ति के लिए प्रयास करके भी मुक्त नहीं हो पाती। इसलिए यह मत अंगीकार करने योग्य नही है।[१९]

इस तरह हम देखते हैं कि आत्मा का स्वरूप कई प्रकार से हमारे सामने उपस्थित होता है। चार्वाक् चैतन्य-आविशिष्ट देह को ही आत्मा मानते हैं उनमें से कुछ के अन्तः करण को और कुछ इन्द्रियों को। बौद्ध क्षणभंगुर विज्ञान-सन्तान को आत्मा मानता है और जैन देह परिमाण को आत्मा कहता है। नैयायिक की आत्मा ब्रह्म से भिन्न

कर्तृत्व आदि धर्मों से युक्त है। मीमांसकों का कहना है कि द्रव्य तथा बोध दोनों आत्मा के स्वभाव हैं। सांख्य के मत में आत्मा केवल भोक्ता है। कर्त्ता नहीं, वेदान्ती लोग कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि से रहित और जीव से अभिन्न चित्तस्वरूप आत्मा को मानते हैं। वाचस्पति ने आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्यस्वरूप बताया है। वह विभु और नित्य है। सत् चित्त और आनन्द उसका रूप है। अध्यास की स्थिति में वह प्रादेश्कि हो जाता है। 'अहम् इहैव अस्मि सदने जाजानानः' यह अनुभव अध्यास में होता है। मैं इस घर को जानता हूँ इस उदाहरण में मैं से जिस आत्मा का बोध है, वह अज्ञानमय है। "घर में हूँ' इस ज्ञान में 'घर' के कारण आत्मा में प्रादेशिकत्व का अनुभव भी अविद्याजन्य है। 'जानता हूँ' शब्दों से आत्मा का ज्ञाता होना जो सिद्ध है वह भी उसका मूल रूप नहीं है। अध्यास से ही उस प्रकार प्रतीति होती है। दूसरी बात यह भी है कि 'सिंहो माणवकः' इस अनुभव में माणवक में सिंहत्व का हम आरोप यद्यपि करते हैं, फिर भी वह यह सिंह नहीं है, यह बोध ज्ञान रहता है। इसलिए आरोपित आत्मत्व विशिष्ट देह की अहम् प्रतीति के विषय होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

'मम शरीरम्' आदि उदाहरणों में जो आत्मा से पृथक् शरीर का भान बताया जाता है, वह 'राहोः शिरः' की तरह औपचारिक है। राहु और शिर में किसी प्रकार का भेद नहीं होने पर भी किसी प्रकार भेद की कल्पना करके षष्टी कर दी जाती है। देह और आत्मा की अभिन्नता में यह भी एक हेतु है कि 'मम शरीरम्' कहने वाले से पूछने पर 'कस्त्त्वम्' के उत्तर में वह अपने वक्षःस्थल पर हाथ रखकर कहता है, 'अयम् अहम् अस्मि' मैं यह हूँ, इस प्रकार की प्रतीतियों से देह के भीतर ही आत्मा का निवास है, यह सिद्ध होता है। परन्तु अज्ञान के कारण हम देह को ही आत्मा मान लेते हैं। 'सोऽहमस्मि इस प्रत्यभिज्ञा' से आत्मा का जिसके अंश के साथ एकरूपता का ज्ञान होता है, वही इसका मौलिक स्वरूप है। ब्रह्म साक्षात्कार के बाद देहात्मभ्रम की निवृत्ति हो जाती है। आचार्य शंकर ने **अध्यासभाष्य** में लिखा भी है — पश्वादिभिश्चाविशेषात्।[20] **भामती** में वाचस्पति ने इसे और स्पष्ट किया है — शास्त्रचिन्तकाः खलु एवं विचारयन्ति न प्रतिपत्तारः।[21] इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के मनन में जो कुशल है और आत्मसाक्षात्कार से रहित है, उनका व्यवहार भी लोक में पशुओं के सदृश होता है। जिस प्रकार पशु लाठी लेकर किसी मारने वाले को अपनी तरफ़ आते देखकर भाग जाता है और हाथ में घास लेकर आते हुए व्यक्ति को देखकर उस खिलानेवाले के समीप चला आता है, उसी प्रकार शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न विद्वान् या महात्मा पुरुष हिंसक, क्रूर आदि प्रतिकूल तत्त्वों को देखकर अलग हो जाते हैं और अनुकूल भक्त को देखकर उसके समीप हो जाते हैं। इस प्रकार के प्रमाण-प्रमेय व्यवहार में पशु और पामर के तुल्य ही शास्त्र चिन्तकों का व्यवहार लोक में देखा जाता है। इसलिए देह से भिन्न जीवात्मा को प्रत्यभिज्ञा से मानना और

अहम् तथा जीवात्मा को एक मानना अध्यस्तपरक सिद्ध होता है, अनाध्यस्त आत्मा तो ब्रह्मस्वरूप है। अहमनुभव से उस आत्मास्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्रतीति नहीं होती है। शुद्ध आत्मा अहंविषयक नहीं है।

---

१. **छान्दोग्योप.** – ५:३/६
२. **वृहदा.**– २/४ २.४/५/३
३. **कोषितकी** –२/७
४. **छान्दोग्योप.** – ५/१/७
५. **तैत्तिरीग्योप** –२/२/१
६. **भामती** – पृ. १२७
७. **सिद्धान्त बिन्दु** – पृ. ११४
८. **भामती** – पृ. ८२
६. **पदार्थधर्म** – पृ. २६
१०. **छान्दोग्योप** – ३/१६/१
११. **भामती** – पृ. ८२
१२. **वैशेषिकसूत्र** – ७/१/१२
१३. **न्यायसूत्र** – १/१/१०
१४. **भामती** – पृ. ४८३
१५. **सांख्यप्रवचन सूत्र** – ६/१–२
१६. **सांख्यकारिका** – कारिका,१८
१७. **श्लोकवार्तिक**/आत्मवाद, १/५
१८. **तन्त्रवा**, शा.दी. पृ. २५०
१६. **भामती**, पृ. २७२
२०. **ब्रह्मसूत्र** – १/१/१ **अध्यास भाष्य**
२१. **अध्यासभाष्य** पर **भामती**,

8

वाचस्पति के मत में ईश्वर का स्वरूप

भारतीय दर्शन में जीव ब्रह्म और ईश्वर की विवेचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। सामान्यतः जीव के दो रूप हैं – 'जीवात्मा परमात्मा च'। जीव की तुलना में ईश्वर प्रधान है चूँकि वह सर्वज्ञ और सर्वशाक्तिमान है तथा ईश्वर के ज्ञान के लिए जीव का प्रयत्न देखा जाता है। यह ईश्वर जीव के ज्ञान और कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यह कारक हेतु की तरह भी कहीं कहीं प्रतीत होता है और प्रतिपादन से ब्रह्म के पर्याय के रूप में भी भ्रान्ति पैदा करता है।[1]

प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाक् ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। बीज में अंकुर की उत्पत्ति मिट्टी और जल के संयोग से होती है उसके लिए अदृष्द कर्त्ता की आवश्यकता नहीं। अगर वह वस्तुतः होता तो कहीं-न-कहीं निश्चित ही दिखाई पड़ता। उसकी दृष्टि में 'लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः' – संसार में मान्य राजा ही ईश्वर है। जैन और बौद्ध अपने मत के स्थापक और प्रचारक को ही ईश्वर मानते हैं, ऐसा आभासित होता है। बौद्ध का ईश्वर सर्वज्ञ मुनि बुद्ध से भिन्न तथा जैन की दृष्टि में अर्हत मुनि के अतिरिक्त ईश्वर कोई दूसरा नहीं है। सांख्यदर्शन में ईश्वर विषयक दो मान्यताएँ हैं – सेश्वरवाद और निरीश्वरवाद। विज्ञानभिक्षु **सांख्यप्रवचनभाष्य** में सेश्वरसांख्य का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका** में ईश्वर की चर्चा नहीं है।

पतञ्जलि की दृष्टि का रूप मुख्यतः व्यावहारिक है। इस पर योगी चित्त को एकाग्र करता है और वह ईश्वर अपने भक्तों की सहायता करता है। ईश्वर के जप तथा अर्थ के स्मरण से चित्त एकग्र होता है – ईश्वरप्रणिधानाद् वा। पतञ्जलि ईश्वर की आवश्यकता जगत् की समस्या के समाधान के लिए नहीं मानते–क्लेश -कर्मविपाकश्चैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। परन्तु यह ईश्वर सांख्य के २५ तत्त्वों से भिन्न नहीं है। बाद में योग के आचार्यों ने ईश्वर को केवल प्रणिधान का विषय नहीं, अपितु महाप्रभु भी माना जो कृपाकर के उपासकों के पाश को दूर करके योग का मार्ग सुगम बना देता है।

न्याय दर्शन में ईश्वर को आत्मा का एक भेद मानते हुए उसे परमात्मा कहा गया है 'ज्ञानाधिकरणमात्मा'। स ही द्विविधः जीवात्मा परमात्मा च। आचार्य उदयन ने ईश्वर की सप्रमाण सिद्धि की है। कार्य जगत् के लिए तथा निष्क्रिय परमाणुओं के संयोजन के हेतु निमित्त ईश्वर ही है जो इन्हें धारण करता है। वैशेषिक की धारणा भी कुछ इसी तरह की है। इनके मत में कर्म के अनुसार ईश्वर जगत का निर्माण करता है। यह जगत का उपादान कारण नहीं बल्कि केवल निमित्त कारण है।

अद्वैत वेदान्त में तत्त्व का प्रतिपादन सत्ता की दृष्टि से किया गया है। यह सत्ता आभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक तीन तरह की है। निर्गुण निर्लेप और निर्विशेष ब्रह्म पारमार्थिक है ओर जगत का कारण नहीं है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। इसका कारण मायोपाधिक परमात्मा है। यह अज्ञान की उत्कृष्ट उपाधि है जो शुद्ध सत्व प्रधान है। अज्ञान की उपाधि जहाँ मलीन सत्व प्रधान है, उसे जीव कहा गया है। यह शुद्ध परमात्मा न किसी का कारण है और न कार्य, परन्तु जब यह माया रूप उपाधि से युक्त होता है तो ईश्वर कहलाता है। यही मायाविशिष्ट ईश्वर स्वप्रधान्येन जगत का निमित्त कारण तथा मायाप्राधान्येन उपादान कारण है। सदानन्द ने इसे ही – 'स्वोपाधिप्रधानतया उपादानं स्वप्रधानतया च निमित्तम्' कहा है। यह ईश्वर जीवकृत शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार फल देता है।

इस तरह ईश्वर के स्वरूप में विभिन्न मान्यताएँ होने के बावजूद इसके बहुत्व को नहीं स्वीकार करके एकत्व को स्थापित तथ्य माना गया है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित अद्वैतवेदान्त में ईश्वर विषयक सिद्धान्त के प्रतिपादन में घटाकाश, शुक्ति, रजताभास और सूर्य चंद्रादि प्रतिबिंब के दृष्टांत और अवच्छेद आभास तथा प्रतिबिंब आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। इन्हीं दृष्टांतों के फलस्वरूप शंकरोत्तर वेदान्त में ईश्वर के विषय में तीन विभिन्न प्रस्थानों की स्थापना हुई अवच्छेदवाद आभासवाद तथा प्रतिबिंबवाद। इनके प्रस्थापक आचार्य हैं क्रमशः वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वराचार्य और पद्मपादाचार्य।

वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद को स्थापित करते हैं। अवच्छेद का अर्थ है – सीमा, मर्यादा, पदार्थ का वह गुण जो उसे औरों से अलग कर दे। जैसे घर और आकाश दोनों ही स्वतंत्र हैं। किन्तु जब 'घटाकाश' ऐसा व्यवहार करते हैं तो वह घट आकाश का अवच्छेदक हो जाता है। अतः अवच्छेदक घट की अपेक्षा रहती है, अन्यथा शुद्धाकाश का घटाकाशादि से भेद सिद्ध नहीं होगा। घट रूप उपाधि के कारण ही एक आकाश होने पर भी भेद सिद्ध होता है।

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के औपचारिक भेद के प्रदर्शन के लिए 'घटाकाशादि' अवच्छेदपरक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। उन्होंने देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यवाच्छिन्न आत्मा को जीव कहा है। उनका कहना है कि जैसे

अपरिच्छिन्न आकाश घटाकाशादि रूप उपाधियों के कारण परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है वैसे ही अपरिच्छिन्न आत्मा देहादिरूप उपाधियों के कारण परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य ने सम्पूर्ण भूतों तथा सम्पूर्ण लोकों को कार्य, स्थूल एवं परिच्छिन्न सिद्ध किया है। पर श्रुति-स्मृति-युक्ति से समाधिगत ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप, प्रकाशस्वरूप, अद्वैत, अनन्त होने के कारण परिच्छेदशून्य है। यह ब्रह्म काल, वस्तु और देश से अपरिच्छिन्न है – न तस्य कार्य कारणे विद्यते–इस श्रुति से आत्मा अकार्य तथा कारणरहित जाना जाता है, अतः यह काल से परिच्छिन्न नहीं हो सकता अन्य सांसारिक पदार्थ अहोरात्रादि रूपकाल से परिच्छेद्य हैं पर ब्रह्म नहीं यह–यस्मात् संवत्सरः परिवर्तते इस श्रुत्यन्तर से भी ज्ञात होता है।[2]

वाचस्पति मिश्र ने **ब्रह्मसूत्र** की टीका में अवच्छेदवाद पर आस्था रखने के विभिन्न कारणों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने वहाँ कहा है कि ब्रह्म का स्वरूपगत भेद जीव और ईश्वर नहीं है। वह तो उसके अन्तर्गत रहने वाले सत् चित् और आनन्द का तात्त्विक समन्वय है। लेकिन अज्ञानोपहित चैतन्य अवच्छेदक होता है, जब शुद्ध सत्य की प्रधानता के कारण ईश्वर शब्द का वाचक होता है। घटाकाश या वनाकाश किसी कारणवश एक परिधि में अवच्छिन्न रहने के कारण उस व्यापक आकाश से भिन्न है। जब घट विशेषण से अनवच्छिन्न हो जाता है या वन का व्यापकत्व समाप्त हो जाता है उस समय घटाकाश या वनकाश व्यापक आकाश से अन्यथा प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः उपाधियाँ तत्त्व की अवच्छेदक हैं। गुरु के उपदेश से साधना और उपासना के माध्यम से श्रवण, मनन और निदिध्यासन की प्रक्रिया में एक जिज्ञासु उतरता है, उस समय यह आवरण दूर हो जाता है और 'अहं' का बोध शाश्वत सत्य के रूप में अवशिष्ट रहता है। इसमें एक और प्रश्न पूर्ण की प्रक्रिया का उठता है, जहाँ उपाधिविशिष्ट चैतन्य निरुपाधिक चैतन्य से निम्नवत् प्रतीत होता है। इसका उत्तर अवच्छेदवाद नहीं देता है। इसलिए वाचस्पति मिश्र पर विभिन्न आक्षेप भी किए जाते हैं। अवच्छेदवाद इसमें निरुत्तर है।

अद्वैतसाहित्य में दृष्टिसृष्टिवाद और सृष्टिदृष्टिवाद दोनों का निरूपण होता है। पहले के अनुसार सत्ता द्वैविध्यवाद और दूसरे के अनुसार सत्ता त्रैविध्यवाद समर्पित होता है। पहला शंकर का मुख्य पक्ष है, जो अवच्छेदवाद के अन्तर्गत आता है और दूसरे की उपयोगिता आभासवाद के अन्तर्गत सिद्ध होती है।

परमार्थतः कार्यकारणातीत निष्प्रपंच ब्रह्म से प्रपंच संभव नहीं। इसीलिए अविद्याप्रभूत जगत तथा उसके कार्य-कलाप इन दोनों को आचार्य शंकर ने स्वप्नसम, अनृत क्षणिक, असार, अनित्यादि रूपवाला माना है।[3] जगत् के पदार्थों के दो ही रूप हो सकते हैं। कुछ तो चित्त परिच्छिद्य होते हैं और कुछ परिच्छेद्य परिच्छेदक

रूप वाले होते हैं। अर्थात् प्रथम प्रकार के पदार्थ स्वप्न या भ्रम स्थल में उपलब्ध होते हैं, जिनकी स्थिति मात्र कल्पनाश्रित होती है और इनका विच्छेदक केवल चित्काल होता है। दूसरे प्रकार के पदार्थ जाग्रत प्रपंच से संबंधित होते हैं इन्हें बाह्य पदार्थ कहते हैं। यह दो काल वाले अन्योन्य परिच्छेद्य होते हैं जैसे गोदोहनमास्ते। स्पष्ट है कि जब तक गोदोहक गोदोहन करेगा, तब तक बैठेगा या जब तक बैठेगा तब तक गोदोहक गोदोहन करेगा। इस प्रकार दोहन तथा दोहक के अवस्थान में परस्पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक संबंध हैं और ये दोनों प्रकार के चित्कालिक (आंतरिक) और दयकालिक (बाह्य) पदार्थ सार्थक पारमार्थिक दृष्टि से कल्पित हैं क्योंकि परमात्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तर सत् नहीं हो सकता।

वस्तुस्वरूपावाधारण ही शंकराचार्य के शब्दों में विद्या या ज्ञान है।[४] अज्ञान के कारण अवच्छिन्न आत्मा अज्ञान के नाश से उसी प्रकार स्वयं प्रकाशित होता है जैसे मेघ के हट जाने से सूर्य।[५] अविद्यावच्छिन्न आत्मा जब विद्यावशात् नियमस्वरूप को जान लेता है तो एसे ज्ञान हो जाता है कि मैं अविद्याजनित उपाधिपरिच्छिन्न अन्य जीव नहीं बल्कि उपाधिविलक्षण धर्मशून्य सर्वभूतस्थ सर्वात्मा परमेश्वर ही है, यह ब्रह्मभाव ही है, यह ब्रह्मभाव ही मुक्त्यवस्था है।[६]

अवच्छेदवाद के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि स्वयंप्रकाश आत्मा को प्रकाशित एवं प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश या प्रमाण की आवश्यकता नहीं। स्थिति सिर्फ यह रहती है, कि जब तक यह अज्ञानावच्छिन्न रहता है, तब तक प्रकाशित-सा रहता है पर जैसे ही अज्ञान का आवरण हटता है, वह मेघ के रह जाने की भाँति सूर्य की तरह प्रकाशित दृष्टिगत होता है। इस प्रकार स्वयंप्रकाश आत्मा को प्रकाशित करने के लिए किसी साधन या करण की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है केवल आवरण को दूर करने की। इस आवरण को दूर करने में ही प्रभाव की उपयोगिता है, उसे प्रकाशित करने में नहीं। ज्ञान से अज्ञान रूप आवरण के दूर होते ही स्वयंप्रकाश आत्मा का स्वयमेव साक्षात्कार हो जाता है।

अवच्छेदवाद अनेक आक्षेपों के बावजूद भी अपना दार्शनिक महत्त्व रखता है। इसी के फलस्वरूप आत्मा की असंगता का प्रतिपादन संभव है। श्रुतियों के द्वारा स्पष्टरूप से आत्मा की असंगता का प्रतिपादन किया गया है। प्रतिबिंब के उपाधिगत दोषों से दूषित हो जाने के कारण प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों के द्वारा आत्मा की असंगता का प्रदर्शन संभव नहीं। स्फटिकलोहित्यादि आभासपरक दृष्टान्तों से भी आत्मा की असंगता का सम्यक प्रतिपादन नहीं हो सकता क्योंकि स्फटिक में लौहित्य का आसंग-सा अवभासित होता है।[७] रज्जुसर्प इत्यादि दृष्टान्तों से भी आत्मा की असंगता का पूर्णरूप से प्रतिपादन नहीं हो पाता।[८] घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों से ही आत्मा की असंगता का पूर्ण प्रतिपादन हो जाता है।

अवच्छेदवाद की स्थापना के कारण

शंकराचार्य ने भी जीव और ब्रह्म के संबंध को मायिक स्वीकार किया है तथा अनिर्वचनीय स्वभाववाली माया के द्वारा इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। शंकर-पूर्व वेदान्त में भी जीव ओर ब्रह्म के पारस्परिक संबंध के प्रश्न पर विचार किया गया। शंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य में आश्मरथ्य, औडुलोमि तथा काशकृत्स्न के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए जीव और ब्रह्म में अभेद को स्वीकार करने वाले काशकृत्स्न के सिद्धान्त का समर्थन किया है। काशकृत्स्न आचार्य के मत में जीव और ब्रह्म में वास्तविक अभेद है। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं और न ही ब्रह्म का विकार है बल्कि अविद्योपाधि से अवच्छिन्न आकाश घटाकाश तथा मणिकाकाश परमाकाश से न तो भिन्न है और न ही उसका विकार है अपितु वह ब्रह्मरूप ही है।

जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद तथा औपचारिक भेद प्रदर्शित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रंथों में 'अवच्छेद' 'प्रतिबिम्ब' तथा 'आभास' इन तीनों का यथावसर प्रयोग किया है। कहीं उन्होंने जीव और ब्रह्म के पारस्परिक संबंध को घटाकाश और मठाकाश के दृष्टान्त से समझाया है, कहीं बिम्ब और प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से और कहीं रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से। इन्हीं दृष्टान्तों के आधार पर ही बाद में अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद इन तीन वादों की स्थापना हुई।

भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने अवच्छेदवाद की स्थापना के पूर्व प्रतिबिम्बवाद का खण्डन कर अवच्छेदवाद का अनेक सूत्रों में समर्थन किया है। उन्होंने नीरूप चिदात्मा के प्रतिबिंबित होने की अंसभावना को प्रदर्शित कर प्रतिबिंबवाद के अनौचित्य को भी प्रदर्शित किया है। अध्यासभाष्य में वे कहते हैं कि रूपवान् द्रव्य अत्यधिक स्वच्छ होने के कारण पृथक् रूप से गृह्यमाण रूपवान् द्रव्यान्तर की छाया को ग्रहण करने में समर्थ होता है। किन्तु चिदात्मा तो रूपरहित विषयी है, अतः यह विषय की छाया को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। कहा भी गया है कि शब्द, रस, गन्ध आदि का प्रतिबिम्ब नहीं होता।[८]

प्रतिबिम्बवादियों ने जीव को प्रतिबिम्बरूप तथा ईश्वर को इसका बिम्बरूप स्वीकार किया है। किन्तु अवच्छेदवादी वाचस्पति मिश्र का कहना है कि ईश्वर न तो चित् का प्रतिबिम्ब माना जा सकता है और न ही चित् का आभास क्योंकि प्रतिबिम्ब या आभास के लिए बिम्ब का रूपवान् होना आवश्यक है। नीरूप वस्तु का न तो प्रतिबिम्ब ही संभव है न ही आभास। चैतन्य नीरूप है। अतएव न तो उसका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है और न ही उसका आभास संभव है। माया अथवा अविद्या के रूपहीन होने के कारण उन्हें प्रतिबिम्ब की उपाधि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि प्रतिबिम्बोपाधि का भी रूप आवश्यक है। अतएव ईश्वर को चैतन्य का प्रतिबिम्ब या आभास नहीं माना जा सकता

है। इस लिए वाचस्पति मिश्र ने अविद्या के आश्रय तथा विषय में भेद मानकर अविद्या का आश्रय जीव को तथा अविद्या का विषय ईश्वर को स्वीकार किया है, और इस प्रकार अविद्या के आश्रय तथा विषय के भेद के आधार पर जीव तथा ईश्वर के स्वरूप का उपपादन किया है।

परिमलकार अप्पयदीक्षित का यह कहना है कि यद्यपि भाष्यकार ने अपने ग्रंथों में प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है, तथापि उनका यह प्रयोग वृद्धिह्रासभावत्वं – इस सूत्र में वर्णित वृद्धि ह्रासादि सादृश्यमूलक होने के कारण गौण है।[10] स्वयं शंकराचार्य ने 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्' इस सूत्र के भाष्य में अमूर्त आत्मा के प्रतिबिम्बित होने की संभावना को स्वीकार किया है तथा अगले सूत्र में यह बताया गया है कि यद्यपि जलसूर्यादि के समान अमूर्त आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता तथापि जलसूर्यादि दृष्टान्तों का प्रयोग वृद्धिह्रासवादि सादृश्य के प्रतिपादन के निमित्त ही किया गया है।[11] जिस प्रकार सूर्यादिप्रतिबिम्ब जलाद्युपाधिगत वृद्धिह्रासादि के कारण वृद्धिह्रासादि को प्राप्त होता है। उसी प्रकार आत्मा भी अन्तःकरणादिगत वृद्धिह्रासादि के निमित्त वृद्धिह्रासादि को प्राप्त करता है। इतना ही जलसूर्यादि दृष्टान्त के द्वारा विवक्षित है, आत्मा का प्रतिबिम्ब होना नहीं, क्योंकि दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में सर्वथा साम्य अपेक्षित नहीं होता। इसी प्रकार **बृहदारण्यक भाष्य** में भी 'स एवं इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इस वाक्य के व्याख्यान के अवसर पर सर्वगत आत्मा का देहादिक में प्रवेश कैसे हो सकता है– यह शंका उठाई गई है। पहले इस शंका का समाधान देहादि में आत्मा के प्रतिबिम्ब के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है, फिर बाद में यह कह कर कि विप्रकृष्टदेशस्थ उपाधि के अभाव के कारण यह संभव नहीं। दूसरा समाधान दिया गया है और कहा गया है कि देहादि में आत्मा का उपलभ्यमानत्व ही प्रवेशपद से विवक्षित है। पाषाणादि के समान देहादि में आत्मा की अनुपलब्धि नहीं होती। यही आत्मा के देहादि में प्रवेश का तात्पर्य है।[12] इस तरह **बृहदारण्यक भाष्य** में भी शंकाराचार्य ने प्रतिबिम्ब में दोष प्रदर्शित किया है।

इस प्रकार अवच्छेदवाद वाचस्पति मिश्र ने प्रतिबिम्बवाद में दोष दिखलाकर अवच्छेदवाद का समर्थन किया है तथा जीव को अन्तःकरणोपाद्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में माना है। उन्होनें प्रतिबिम्बवाद के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है और अवच्छेदवाद को प्रस्थपित किया है।

अवच्छेदवाद पर आपत्तियाँ :

वाचस्पति की ईश्वर मीमांसा पर आलोचकों ने आक्षेप किए। उनका विचार है कि अविद्या का आश्रय जीव को मान लेने पर दृष्टिसृष्टिवाद की प्रसक्ति अनिवार्य है, जिसके कारण जगत् की सृष्टि के लिए ईश्वर की कोई जरूरत नहीं रह जाती। यह नामरूपात्मक प्रपञ्च अविद्या का ही परिणाम है और यदि जीव को अविद्या का

आश्रय माना जाय तो जगत् का कारण भी जीव को ही मानना होगा और इस प्रकार जगत की सृष्टि में ईश्वर की कोई जरूरत नहीं रह जाएगी।

सिद्धान्तबिन्दु की टीका में वाचस्पति मिश्र के मत का उल्लेख करते हुए वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर कहते हैं कि इस मत में ईश्वर अविद्या का आश्रय न होने से जगत् की सृष्टि नहीं करता, बल्कि जीव ही स्वाश्रित अविद्या से स्वाप्निक सृष्टि के समान जगत् की कल्पना करता है। परिणामस्वरूप इसमें दृष्टिसृष्टिवाद फलित होता है और सभी दृश्य पदार्थ प्रातिभासिक ही माने जाते हैं। 'अविद्याश्रयलाभावाच्चनैशो जगत् सृजति, किन्तु जीव एवं स्वाश्रिताविद्यया जगत् प्रकल्पयति स्वाप्निकहस्त्यादिवत् तथा च अर्थादेव दृष्टिसृष्टिवादः फलितो भवति इति सर्वे दृश्याः पदार्थाः प्रातिभासिका एवेति सिद्धान्तरहस्यम्।[13]

उसी प्रकार ब्रह्मानन्द सरस्वती ने **वेदान्तमुक्तावली** में तथा मधुसूदन सरस्वती ने **वेदान्तकल्पलतिका** और **सिद्धान्तबिन्दु** में वाचस्पति मिश्र के अविद्याश्रयविषयक सिद्धान्त से यही परिणाम निकाला है। प्रा. एस. के. दास भी वाचस्पति मिश्र के अविद्याश्रयविषयक सिद्धान्त से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उनका मत है कि वाचस्पति मिश्र के इस सिद्धांत के कारण जिस विज्ञानवाद की आसक्ति होती है, उसमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है।[14]

वाचस्पति मिश्र के अविद्याश्रयविषयक सिद्धान्त के विरुद्ध जो आक्षेप लगाए गए हैं उनका निराकरण करते हुए कल्पतरुकार का कहना है कि वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म को जीवाविद्यादिक सकल प्रपञ्च का अधिष्ठान माना है, जीव को नहीं। अतः प्रपञ्च के अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही वेदान्तवाक्यों का समन्वय उचित है, जीव में नहीं—

अधिष्ठानं हि ब्रह्म न जीवाः
अधिष्ठाने च समन्वय इत्यनवद्यम्।[15]

परिमलकार कहते हैं कि जैसे रजतादि विवर्तों का अधिष्ठान शुक्ति आदि है, वैसे ही जीवाविद्यादिक समस्त विवर्तों का अधिष्ठान ब्रह्म है[16] –

अधिष्ठानं विवर्तानामाश्रयो ब्रह्म शुक्तिवत्।
जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम्।।

जैसे अज्ञात शुक्तिशकल पर रजत का आरोप होता है उसी प्रकार जीवाज्ञात परमेश्वर पर प्रपञ्च का आरोप होता है।[17] अतः प्रपञ्च विभ्रम का अधिष्ठान परमेश्वर है, जीव नहीं। वाचस्पति मिश्र के मत में अविद्या का विषय रजतादि विवर्त का उपादान है, अविद्या नहीं। वे कहते हैं कि अचेतन वस्तु चेतनाधिष्ठित हुए बिना कार्य के लिए समर्थ रूप से अथवा उपादान रूप से आश्रय ग्रहण करती है, अतएव जैसे सर्प विभ्रम का अधिष्ठान रस्सी है, वैसे ही प्रपञ्च विभ्रम का उपादान कारण ईश्वर है।[18]

इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में प्रपञ्चविभ्रम का उपादानकारण ईश्वर को माना है। परन्तु विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि जागतिक प्रपञ्च में वाचस्पति के ईश्वर की भूमिका एक रचयिता-मात्र की है, जो सर्वान्तर्यामी आदि विशेषणों से स्पष्ट होता है। यद्यपि जीव में भी ईश्वर के अधीन होने के कारण कुछ गुण आ जाते हैं, फिर भी कारणता तो ईश्वर की ही है जेसे गुड़ की मिठास ही आटे की मिठास का कारण है। तथ्य यह है कि ईश्वर न तो चित् का प्रतिबिम्ब है और न आभास ही क्योंकि प्रतिबिम्ब या आभास रूपहीन माया या अविद्या का संभव नहीं है। इसलिए ईश्वर को चैतन्य का प्रतिबिम्ब या आभास नहीं माना जा सकता। अतः वाचस्पति मिश्र ने अविद्या के आश्रय तथा विषय में भेद मानकर अविद्या के आश्रय को जीव तथा अविद्या के विषय को ईश्वर माना है।

---

१. **बृहदारण्यकोप. – शां. भा.** ३/६/१०, पृ. - ४२४
२. **ब. उ.** – ४/४/६
३. **उपदेशसाहस्री** – २/१७/२०
४. **ब्रह्मसूत्र – शां. भा.** १/१/१
५. **आत्मबोध** – पृ. १६
६. **मुण्डकोप, – शां. भा.** ३/१/३
७. तथापि तदासंगीव स्फुटिकप्रतिबिम्बमुत्प्रेक्ष – **पंचपादिका** पृ. ११२
८. **वही** – पृ. ११३
९. **भामती** – पृ. १/१/१, पृ. ८
१०. **वेदान्तकल्पतरूपरिमल** – पृ. १५६
११. **ब्रह्मसूत्र – शां. भा.** ३/२/२७
१२. **वेदान्तकल्पतरुपरिमल** – १/१/४. पृ. १५८
१३. **बिन्दुप्रपात** – पृ. ४८
१४. **ए स्टडी ऑफ द वेदान्त** – पृ. ३२२
१५. **वेदान्तकल्पतरुपरिमल** – पृ. ४०४
१६. **वहीं**
१७. **वेदान्तकल्पतरुपरिमल** – पृ. ३२४
१८. **भामती** – पृ. ३७४

9

वाक्यार्थबोध और वाचस्पति मिश्र

सत्ता वस्तु का बोध करती है। बोध की उत्पत्ति और सम्पुष्टि किसी माध्यम से होती है। इन दो प्रक्रियाओं के बीच एक अनुभवकर्त्ता होता है। संसार अथवा व्यवहार आदि किसी कार्य में इन तीन की उपस्थिति रहती है। दर्शनशास्त्र के अनुसार इसका अभिधायक – प्रमेय, प्रमाण ओर प्रमाता होता है तथा व्याकरण शास्त्र में अर्थ शब्द और ज्ञाता। इनमें अर्थ और ज्ञाता प्रथम है। शब्द की स्थिति बाद में है जो दोनों में सम्बन्ध करती है। यह समन्वय सम्प्रत्ययात्मक होता है। शब्द उसका अभिव्यंजक है। लौकिकता की स्थिति में पदार्थ को बोधित करनेवाला यही प्रतीक ध्वनि कहलाता है। किसी बोलते हुए बच्चे को 'बहुत हल्ला करता है, कोलाहल मत करो', ऐसा कहने का ढंग शब्द के ध्वन्यात्मक रूप की ओर संकेत करता है। यही वाणी का वैखरी रूप है।

आधुनिक भाषा विज्ञान का अध्ययन और विश्लेषण क्षेत्र यहीं से श्रीगणेश करता है। विवर का अर्थ शरीर के आधार पर आविर्भूत होने वाली वाणी से है, जिसका प्रकटीकरण ध्वनियों के उच्चारण स्थान और श्रवण की प्रक्रिया से होता है। ध्वनियाँ कण्ठ, ओष्ठ, तालू आदि स्थान से उच्चरित होकर श्रोता के कर्णविवर से अन्तः-प्रविष्ट होती है और मस्तिष्क तक के शरीर के विभिन्न अवयवों को संचालित करती हुई पदार्थ के स्वरूप और गुण का निर्धारण तथा वर्गीकरण करती है। यह स्थान 'मध्यमा' का होता है जहाँ ध्वनि को प्रतीक रूप में उत्पन्न करने वाला शब्द मूल रूप में विराजमान होता है। इसका आधार अर्थ होता है। वक्ता इसी मध्यमा में अवस्थित शब्द प्रतीक को वैखरी से उच्चरित करता है। प्रतिक्रियास्वरूप तत्तद् वर्णों का अवगमन होता है।

ध्वनि का स्थान नियत है। इसकेलिए आन्तरिक स्थल अपनी-अपनी सीमा में वर्तमान है। सूर्य की ऊष्मा से प्रसरणशील वायु जठराग्नि से जब उत्पन्न होती है, तो वह उन-उन स्थलों में भर जाती है। उसी आवाज़ के प्रतीक क, च, ट, त, प य आदि हल् और अच् होते हैं। ये पृथक्-पृथक् प्रयत्नों के परिणाम है। जयादित्य

ने कहा भी है –

पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्ति आचार्यः।।

वाक् तत्त्व के अन्तरंग विवर्त को नाद ओर बहिरंग विवर्त को वर्ण माना गया है – ऐसा अभिनवगुप्त का विचार है। परन्तु यह विश्लेषण वाणी के अन्तरंग और बहिरंग दोनों पक्षों को नित्य उपस्थित करता है। जबकि कहीं-न-कहीं अनित्यता का पक्ष इसमें अनिवार्य इसलिए प्रतीत होता है चूँकि व्यवहार में परिणत होने वाला शब्द या उसका प्रतिनिधि ध्वनि व्यापार बोधित करने के बाद विरत हो जाता है, अथवा नष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त प्रक्रिया शब्द या अर्थ के स्वरूप निर्धारण में जिस उद्देश्य से प्रवर्तित होती है, यह सांसारिक व्यवहार ही है। इसकी सम्पुष्टि पतञ्जलि भी करता है और इसके लिए आधार लोक व्यवहार को ही मानता है जो शब्द के प्रयोग में कारण है।[1]

लेकिन शब्द का उद्देश्य अगर इतना ही है तो क्यों नहीं हम संकेत के माध्यम से ही इसको सम्पन्न कर ले? यह तृष्णा स्वभावतः उपस्थित हो जाती है। इसका समाधान यास्क ने किया है[2] – 'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके'। तब तो शब्द से पलायन संभव ही नहीं है। विनोबाजी के विचार से तीन ताकतों ने आज तक दुनिया बनायी है। विज्ञान, आत्मज्ञान और वाणी। विज्ञान बाहर से प्रकाश डालता है और आत्मज्ञान भीतर से प्रकाश करता है। इन दोनों के बीच वाणी पुल का काम करती है, जिसका कार्य होता है, दोनों किनारों का संयोग कराना और दोनों तरफ रोशनी डालना। इसलिए वाणी अथवा शब्द बोध का स्वरूप भाषा शास्त्र में अपरिहार्यतः विवेच्य है।

जैसा कि व्यवहार में प्रतीत होता है, भाषा केवल उच्चारण मात्र है परन्तु वास्तविकता भिन्न है। एक ओर यह सूक्ष्म अन्तर्जगत् के अदृश्य विचारों का स्वयं संवेदन प्राप्त कर परप्रेषण करती है तो दूसरी ओर स्थूल बहिर्जगत् के दृश्य विचारों को नियंत्रित भी करती है। इसलिए शब्द का संबंध विचार, आचार और उच्चारण से है जो शाश्वत और अशाश्वत पदार्थों को संकेतित करने के कारण नित्य और अनित्य दोनों रूप में उपस्थित है। चिति का संचरण इन्हीं तीन क्रियाओं में होता है। यह चिति अतिमानस से मानस स्तर तक जब संचरण करती है तो वह विचार कहलाता है। मानस से लेकर अन्तिम वैखरी अवयव तक की उसकी यात्रा उच्चार है और बाह्य जगत् के क्रियात्मक नियोजन में उसे आचार कहा जाता है। शब्द का यह अनित्य स्वरूप है। तब तो इसके आधार को अवश्य ही खोजना होगा जिसका यह कार्य है और कारण होने के कारण प्रथम नित्य है। यहीं कहीं स्फोट का निवास होता है।

मुख्यरूप से स्फोट शब्द तत्त्व का ही एक दूसरा अन्वर्थक नाम है ऐसा व्याकरण शास्त्र से प्रतीत होता है। पतञ्जलि उसके प्रथम आविष्कारक हैं। स्फोटायन उनका जो दूसरा नाम दिया गया है, उसका यही कारण है। **अष्टाध्यायी** में पाणिनि ने 'अवङ्स्फोटायनस्य' इस सूत्र से जिस आचार्य का स्मरण किया है, वह पतञ्जलि कैसे हो सकता है; यह प्रश्नवाचक चिह्न ऐतिहासिकों के समाधान के लिए आज भी लगा हुआ है।[3]

स्फोट शब्द पर गहन विचार तब प्रारम्भ हुआ जब **महाभाष्य** लिखकर पतञ्जलि ने व्याकरण के दर्शन पक्ष का विवरण देना प्रारंभ किया। शब्द के परिप्रेक्ष्य में जब 'शब्दः जायते, शब्दः नश्यति' आदि समस्याएँ स्वरूप-निर्धारण में उपस्थित हुईं तब स्फोट शब्द की उपस्थिति प्रतीत होती है। पाणिनि 'जायते' और 'नश्यति' का अर्थ सर्वथा उत्पन्न और नष्ट होना न मानकर प्रकट क़रना और अदर्शन होना मानते हैं, फिर भी यह समाधान पाणिनि की अनुपस्थिति में मान्य नहीं हो सकता है। यह तो क्षणिक तर्क है जहाँ नाश का अर्थ सत्ता का अभाव न मानकर तिरोभाव माना जाए। परन्तु यह विचार शब्द के उस पक्ष को उजागर करता है, जहाँ शब्द की नित्यता और व्यापकता सिद्ध होती है। शब्द न तो वहाँ कभी समाप्त होता है और न नया उत्पन्न होता है। शब्द के उसी क्रीड़ास्थल का नाम स्फोट है।

जिससे अर्थ विकसित या स्फुटित होता है वह स्फोट है। वैखरी से उच्चरित शब्द कर्णकुहर में प्रविष्ट होकर ही विराम पा जाता है। परन्तु इस वायु प्रवेश से हृदय प्रदेश में क्षोभ उत्पन्न होता है जो 'मध्यमा' का स्थान है। वहीं व्यापक स्फोट की अभिव्यक्ति होने से अर्थबोध होता है। जहाँ बिना वैखरी के उच्चारण के काव्यरचना या पत्रलेखन आदि से अर्थ बोधित होने का प्रसंग है, वहाँ केवल लिपि के संकेत से ही मध्यमा वाणी के द्वारा शब्दबोध हुआ करता है। आर्ष प्रमाण से यह सम्पुष्ट भी होता है।[4]

वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमया कृता नादः स्फोट व्यञ्जक उच्यते।

प्रयोक्ता पुरुष की इच्छा से शरीर में वायु के संचरण होने पर उरस् प्रभृति उद्देश्यों में आद्यन्त होने से सामान्य ध्वनिरूप स्वर व्यंजन आदि वर्ण अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करते हैं। यही वाणी का स्वरूप है – यदि तु प्रयोक्तृपुरुषेच्छानुविधायि–प्रयत्नप्रेरिते प्राणाभिधाने मारूति शरीरोद्देष्टुं उर प्रभृतिषु जाताभिधाते सैव सामान्यध्वनिरूपा स्वरव्यंजनादिभेदविभक्ताकारादिवर्णरूपतां प्रयोक्तृभेदोऽपि अव्यभिचरन्ती प्रसरति तदा वर्णभेदादिव्यंजकप्राणमात्राश्रया वैखर्याभिधानवाग्रूपाविवृत्तिरित्युक्तम्।

मध्यमा वाक् मुख के अवरस्थान में वर्तमान है। जब इसमें एषणाप्रेरित वायु प्रकटीकरण की दृष्टि से ऊर्ध्वगमन करती है तो आस्यसमीपवर्ती वायु से इसका सम्मेलन होता है। दोनों संयुक्त होकर कण्ठप्रदेश को पहुँचाती है ओर मूर्धा से टकराकर परावर्तित होती है तथा विभिन्न स्थानों से अभिव्यक्त हो (निकल) कर दूसरों से श्रवण योग्य होने पर वैखरी शब्द के साथ वैखरीरूप में प्रतिपन्न है। वाक् का इस तरह का स्वरूप और विश्लेषण ही मूल में स्फोट को सिद्ध करता है। वेदों मे वर्णित वाक्तत्त्व इसी स्फोट का प्रारम्भिक प्रतिपादन है।

स्फोट को वर्ण, पद और वाक्य तीनों रूप में स्वीकार किया गया है। प्रणव स्फोट के परिणामभूत जो स्फोटरूप वर्ण हैं, वे भी सनातन और नित्य हैं। ये पौवापर्य-क्रम वाले मातृका वर्ण हैं। इस क्रम को छोड़कर ढक्कनादि के बहाने सूत्रों के रूप में मुनियों द्वारा उपदिष्ट 'अइउण्' आदि वर्णसमाम्नाय वर्णस्फोट के उदाहरण और शब्दब्रह्म के सूक्ष्म रूप या सूक्ष्म शरीर हैं। वैसे पद जो सम्पूर्णतः अर्थ का बोध कराते हैं, पदस्फोट हैं। वैदिक और तांत्रिक मंत्र वाक्यस्फोट के मुख्य उदाहरण हैं।

शब्द से पदार्थ का ज्ञान या अर्थावगति स्फोट का ही विकसित रूप है। परन्तु अर्थ का निर्धारिक एक-एक वर्ण होता है, या प्रत्येक पद अथवा संपूर्ण वाक्य। कुछेक का कहना है कि अर्थ का निश्चयीकरण अन्तिम वर्ण से होता है। मित्रः का अन्तिम विसर्ग जो 'त्र' के साथ ही उच्चरित होता है, पृथक् नहीं सूर्य का गमक होता है ओर 'मित्रम्' का अन्तिम वर्ण 'म्' दोस्त अर्थ का निर्धारण करता है।[५] 'ग्रा' कहने के बाद जब तक वक्ता 'म' या 'ह' का उच्चारण नहीं करता तब तक गाँव अथवा घड़ियाल का बोध नहीं हो सकता। अतः स्फोट अन्तिम वर्ण है – ऐसा सिद्ध होता है। परन्तु इस कथन में गौरव और अनवस्था दोष है।

शाब्दिक स्फोट नामक शब्दतत्त्व को वर्ण से भिन्न मानते हैं। उनका कहना है कि लोक व्यवहार में पद और वाक्य से अर्थ प्रतीति सर्वानुभव सिद्ध है। इसमें कही भी विवाद नहीं। परन्तु वहाँ भी यही प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रत्येक वर्ण अर्थ का अभिधान करता है अथवा मिलकर; अगर प्रथम वर्ण को अर्थगमक माना जाय तो ठीक नहीं जँचता क्योंकि इस तरह का बोध व्यवहार में होता नहीं है। दूसरी बात यह है कि तब तो दूसरे वर्णों का उच्चारण ही व्यर्थ हो जाता है।[६] द्वितीय विकल्प तो सर्वथा अमान्य इसलिए है कि उच्चरित होने के बाद नष्ट हो चुके वर्ण दूसरे वर्णों से मिल कर किस प्रकार क्रम में उपस्थित हो सकते हैं; कहा गया है–

नह्येकाक्षरविज्ञानादर्थधीरुपजायते।
वाचश्च क्रमवर्तित्वात् साहित्यं नावकल्पते।

एक रूप वाले, समान स्मृती-गोचर शब्द भी पौर्वापर्य के कारण विभिन्न अर्थ को बताते हैं। 'नदी' और 'रसः' शब्द 'दीन' और 'सरः' रूप में समान प्रातीतिक हैं, फिर

भी अर्थवैभिन्य हो जाता है। इसलिए अन्तिम वर्ण के द्वारा अर्थ का प्रत्यायन अगर माना भी जाय तो प्रत्येक वर्ण का अर्थ अनन्त हो जाएगा और तब शब्दों से अर्थनियंत्रण दिवास्वप्न होगा। इसलिए वर्ण से अभिव्यंग्य स्फोट नामक तत्त्व है, यही मानना उचित है।

शाब्दिकों में स्फोट के विषय में मतभेद है। कोई पदस्फोट मानते हैं और कोई वाक्यस्फोट। पदस्फोट को स्वीकार करने वालों का पक्ष है कि यह नित्य, निरवयव एवं परमार्थ है। वर्ण और वाक्य इसमें अध्यस्त हैं जिसका अधिष्ठान पदस्फोट है। वास्तविकता तो यह है कि पद के ही वर्ण न तथा वाक्य के रूप में इसका विभाग अविद्यामूलक है। वाक्यार्थ प्रतीति के जो आकाङ्क्षा, योग्यता आदि तत्त्व हैं, उन्हीं के बल से अर्थबोध होता है।

पदस्फोट की कल्पना का आधार अर्थ का स्फुरण है। वर्ण को स्फोट नहीं मानने का यही मूलकारण है। वर्ण अकेले या स्वतंत्र रूप से अर्थ का प्रत्यायक नहीं हो सकता है। स्फोट तो वह है जो अर्थ को परिस्फुरित करे। वर्ण में यह क्षमता नहीं है। अगर हो भी तो वह इतनी व्यापक और अनियंत्रित है कि व्यवहार को संकेतित करने के लिए उपयुक्त नहीं। कहीं इसका अगर ज्ञान हो भी तो वह गुफा में विराजमान् सिद्धों की तरह एक दो के ही अनुभव का विषय होने से लोकमान्य नहीं है। इसका मतलब वर्णों की निरर्थकता से नहीं है। वर्ण जब स्वतंत्र है, तो इसका अर्थ व्यावहारिक नहीं है। यास्क ने वर्ण को पदार्थबोधक स्वीकार न कर पद को ही उपयुक्त साधन माना है। 'शब्द' से उनका उद्देश्य पद को ही बताना है। उनकी धारणा तो यह है कि पद ही संज्ञाकरण के लिए एकमात्र औचित्यपूर्ण सहज प्रक्रिया है। वर्ण को अगर नामकरण का हेतु माना जाय तो अभिधेय की स्पष्टता में गुरुता हो जाती है। 'क' का अर्थ 'जल' भी होगा। 'ख' का एक अर्थ 'आकाश' है और 'न' का नहीं भी अर्थ किया जाता है। परन्तु 'कखन' यह क्षेत्रीय शब्द 'कब' अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए वर्ण में स्फोटत्व गौरव प्रसंग को उपस्थित करता है।

वाक्य स्फोटवादी वाक्य को नित्य, अवयव रहित एवं अधिष्ठान रूप बताते हैं। उनके मत में वर्ण और पद वाक्यस्फोट के विवर्त हैं। विवर्त का अर्थ है उपादान के समान कार्य की उत्पत्ति – उपादान समस्तकार्योपत्तिः। वाक्य स्फोट का पद और वर्ण में विभाजन अविद्यापूर्ण है। कुछेक वाक्य स्फोट को सावयव भी मानते हैं।

व्याकरण में वाक्यार्थबोध के कारणों पर एक जगह स्पष्ट विवेचना नहीं मिलती और कौण्डभट्ट प्रभृति वैयाकरणों ने यद्यपि इसका व्यवस्थित उल्लेख किया है, फिर भी नागेश का इसमें विशेष योगदान है। **लघुमञ्जूषा**[6] और **परमलघुमञ्जूषा** में वाक्यार्थ बोधकता का एक लंबा प्रकरण ही मिलता है।[7] परन्तु इनके प्रतिपादन से ऐसा प्रतीत

होता है कि अन्य शास्त्रों में जहाँ आंकाङ्क्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य को प्रायः वाक्य के अर्थबोध में जहाँ अपरिहार्य कारण माना गया है, वहाँ उपर्युक्त चारों कारण सर्वत्र अपेक्षित नहीं हैं। **परमलघुमञ्जूषा** में वाक्य से होने वाले शब्दबोध के लिए इन्होंने चार सहकारी कारण बतलाये हैं। आकाङ्क्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य।

व्याकरण से भिन्न न्याय आदि शास्त्रों में वाक्यार्थ बोध के उपर्युक्त क्रम में वैभिन्य मिलता है – आसक्ति-योग्यता-आकाङ्क्षा में वैभिन्य मिलता है – आसक्ति-योग्यता-आकाङ्क्षा-तात्पर्यज्ञानमिष्यते कारणम् **न्यायमुक्तावली** का. ८२–८३। नागेशभट्ट ने इस क्रम से भिन्न ही रूप ऊपर बतलाया है। यद्यपि इसके पक्ष में कोई विशिष्ट तर्क उन्होंने उपस्थित नहीं किया है, फिर भी ऐसा कहा जा सकता है कि प्रथमतः आकाङ्क्षा ही शब्दबोध में आवश्यक है। इसका कारण है कि पद से पदार्थ-ज्ञान होते ही तदन्वययोग्य अन्य पदार्थ की जिज्ञासा होती है। योग्यता-आसक्ति आदि की आवश्यकता तो बाद में होती है। यह आकाङ्क्षा वाक्य के संकेत विषयक बोध को उत्पन्न करने वाली है– वाक्य-समय ग्राहिका चाकाङ्क्षा– **लघुमंजूषा** – पृ. ४८८। एक पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर उसके अन्वययोग्य अन्य पदार्थ ज्ञानविषयक इच्छा आकाङ्क्षा है। यह आकाङ्क्षा इच्छा रूप होने से पुरुषगत हैं परन्तु तब तो अयमर्थः अर्थान्तरमाकांक्षते आदि व्यवहार अनुपपन्न होता है फिर भी आकाङ्क्षा के विषयभूत अर्थ में आरोप मान कर अर्थ को साकाङ्क्षा कहा जाता है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने समर्थः पदविधि[८] सूत्र के भाष्य में आकाङ्क्षा को अर्थ में बतलाया है। परन्तु उचित तो यह लगता है कि शब्दबोध का हेतु होने के कारण इसे पद में ही आरोपित माना जाए फिर भी एक पदार्थ का ज्ञान होने के पश्चात् अन्य पदार्थ के व्यतिरेक से प्रयुक्त शब्दबोध (जनकत्वाभावज्ञानमूलक) आकाङ्क्षा का उत्थापक होता है। 'घटं' के उच्चारण से घटपदार्थ के ज्ञान के अनन्तर 'आनय' आदि अन्य पदार्थों के तद्विषयक ज्ञानाभाव से प्रयुक्त घटपदार्थनिष्ठ शब्दबोधजनकत्वाभाव का ज्ञान इस आकाङ्क्षा का प्रेरक होता है। इसलिए अर्थ की प्रस्तुति में आकाङ्क्षत्व मानना भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है। खण्डवाक्यार्थ बोध की तरह महावाक्यार्थ बोध में भी आकाङ्क्षा समान रूप से रहती है। क्योंकि आकाङ्क्षा पदार्थ के घटक अन्वयबोधक शब्द से ही अर्थबोध होता है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि वाचस्पति मिश्र ने वर्णसमुदाय की पदत्ता को स्वीकार किया है। वर्णों के आशुतर विनाशी होने के कारण उनका एकत्र होना सम्भव नहीं है, इस आशंका में उन्होने लिखा है – स्यादेतत् अनवयवमेव ही वाक्यं वाक्यार्थस्य, पदमिति, वाक्यमिति, चानुपसंहारबुद्धौ अभिन्नस्य वस्तुन उपारोहात्। न खल्वियं बुद्धिः अभिन्नवस्तुनिर्भासा, परस्परव्यति, भिद्यमानात्मनो वर्णानेव गोचरयितुमर्हति एकत्वनानात्वयोरेकत्रासंभवात्। न च वर्णात्मनस्तु, समवायिनो

वाक्यस्य कुतस्तदुपरागवती प्रख्या इति वाच्यम्। तदतिरिच्यमानमूर्तिनां परमार्थसतां वर्णानामभावात्।

परन्तु वाक्यार्थ का वाचक शब्द (वाक्य) वर्णों के अतिरिक्त निरवयव है, अनुभव तो वर्णों का ही होता है, क्योंकि अतिरिक्त किसी भी वस्तु का प्रत्यक्षभान नहीं होता है – ये सारी बातें नहीं कही जा सकतीं। साहित्यावगाही ज्ञान में यह पद है, यह वाक्य, इस प्रकार की अभिन्न एक वस्तु के उपरोह (भान) से यह स्पष्ट होता है कि वर्णों से भिन्न एक तत्त्व अवश्य है जो वाक्यार्थ का बोधक होता है। यह पद है, या वाक्य है, इस प्रकार की भिन्न बुद्धि परस्पर विभिन्न वर्णों को ही विषय करती है किसी दूसरे को नहीं – यह भी नहीं कह सकते। एकत्व और नानात्व इन दोनों का एकत्र समवाय हो नहीं सकता, क्योंकि ये दोनों शीतल और उष्णत्व के समान परस्पर विरुद्ध धर्मी हैं। इनका एक काल में एक आश्रय में रहना असंभव है। वाक्यों के वर्णात्मक होने से वर्णात्मक में यह वाक्य है, इस प्रकार की बुद्धि का कारण यह है कि वाक्यों के अतिरिक्त मूर्तिवाले परमार्थसत् कोई वर्ण है ही नहीं।[६] इस प्रकार की उक्ति प्रत्युक्ति से मिश्र जी ने स्पष्ट ही वाक्यस्फोट को मान्यता दी है, यही मान्यता भर्तृहरि की भी है –

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्व्यक्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते।।
प्रत्येकं व्यञ्जना भिन्ना वर्णा वाक्यपदेषु ये
तेषामत्यन्तभेदेऽपि संकीर्णा इव शक्तयः।। **वाक्यपदीय**– १/८८–८९

स्फोट को नहीं मानने पर 'वाक्यादतिरिच्यमानमूर्त्तीना परमार्थसतां वर्णानाम-भावातिति इस वाक्य के अतिरिक्त परमार्थ सत्वर्णों का अभाव ही है, इस प्रकार वाचस्पति का कहना एकदम असंगत हो जाता है। एक बात और है। 'अइउण्, सूत्र के भाष्य में आकारादेशः शब्दः में एक वचन के प्रयोग के स्वरूप में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आद्य ध्वनि से अन्तिम ध्वनिपर्यन्त प्रत्येक ध्वनि से उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशमान् एक ही स्फोटत्व अभिव्यक्त होता है। यह नित्य है और वाचक भी–तस्मान्नित्यः शब्दः स्फोट एव वाचको न वर्ण इति। आचार्यपाद शंकर ने भी 'शब्द इति चेन्नातः प्रभावात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' सूत्र के भाष्य में कहा है – तस्मान्नित्याच्छब्दात् स्फोटरूपादभिधायकात् क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति।

परन्तु एक शंका उठती है कि आकारादेशः शब्दः में एक वचन के प्रयोग से उसका विषय वर्णो के अतिरिक्त पद या वाक्य होता है, वर्णन नहीं – यही भाष्यकार का आशय सूचित होता है। इस स्थिति में एकवचन से एक अखण्ड स्फोट की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है। परन्तु यह आशङ्का युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि 'आकारमपि

नोपलभते' इस उपक्रम ग्रंथ से विरोध हो सकता है। तात्पर्य यह है कि 'नैकोदुष्टा आदित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपद्देशपृथक्त्वेषूपलभते। आकारं पुनरुपलभते।' इस ग्रंथ से नानात्व की शङ्का कर अकारमपि नोपलभते, यह उत्तर भाष्यकार ने दिया है कि आकार की भी उपलब्धि नहीं होती है। अनुपलब्धि के कारण की जिज्ञासा में भाष्यकार ने कहा है – श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकारादेशः शब्दः। यहाँ अकारमपि नोपलभते' इस उक्ति से स्पष्ट सूचित है कि आकारादेशः शब्दः में एक वचन के प्रयोग से एकत्व का विषय वाक्य नहीं है, किन्तु स्फोट है। क्योंकि पद और वाक्य में तो 'अकारादि वर्णों की उपलब्धि होती है। पद या वाक्य को एकवचन का विषय मानने पर 'अकारमपि नोपलभते' यह वाक्य ही असंगत हो जाता है। इस भाष्य सन्दर्भ और **तत्त्वबिन्दु** में उल्लिखित पंक्तियों पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्ण आदि से भिन्न एक नित्य और अखण्ड स्फोट तत्त्व ही अर्थ का वाचक होता है, वर्ण या वार्णात्मक पद या वाक्य नहीं। वर्ण आदि तो उसके अभिव्यञ्जक मात्र हैं।[10]

पदार्थ की प्रतीति में वाचस्पति ने अन्विताभिधानवाद का निराकरण करके अभिहितान्वयवाद को स्वीकार किया है।[11] इनका कहना है कि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है। इसके पश्चात् पदार्थों का परस्पर संबंध, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थ मर्यादा से उपस्थित होता है। अतः पदों द्वारा पहले पदार्थ अभिधा, शक्ति द्वारा बोधित होता है, बाद में वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय होता है, जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। कहने का आशय है कि पहले पदों से केवल अनन्वित पदार्थ की उपस्थिति होती है।[12] बाद में पदों की आकांक्षा, योग्यता तथा आसक्ति के बल से तात्पर्याख्या शक्ति द्वारा उन पदार्थों के परस्पर संबंध रूप वाक्यार्थ का बोध होता है। इस पर विस्तृत विश्लेषण **तत्त्वबिन्दु** में है। परन्तु **भामती** में भी मिश्र जी ने इस संदर्भ पर विचार किया है, वहाँ **तत्त्वबिन्दु** से कुछ उक्तियों को उद्धृत करते हुए अभिहितान्वयवाद का समर्थन किया है और विस्तार के लिए **तत्त्वबिन्दु** की तरफ संकेत किया है – दिङ्मात्रमत्र सूचितं विस्तरतस्तु तत्त्वबिन्दावगन्तव्य।[13] इति

---

१. (क) लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोग शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते/ **महाभाष्य-पस्पश.**

(ख) नहि वैयाकरण कुलं गत्वाह .... कुरू घटं प्रयोक्षेय/ **महाभाष्य-पस्पश.**

२. यास्क–**निरुक्त,** – पृ. ३

३ **अष्टाध्यायी** – ६/१ पृ २१/२३

४. **वाक्यपदीय** – १/१४३ पर स्वोपज्ञ.

५. अयुगपदुत्पन्नानां शब्दानामितरेतरोपदेशः – **निरुक्त**–पृ. ३ दुर्गाचार्य

६ **लघुमञ्जूषा** – पृ. ४८८–५३४

७. **परमलघुमंजूषा** – पृ. ७७-८५

८. अर्थशाब्दबोधसहकारिकारणानि आकाङ्क्षा-योग्यता आसक्तितात्पर्याणि, **परमलघु**.–पृ. ७७

६. मीयमानपरित्यागे बाधके नासति स्फुटे।
दृष्टकार्योपपत्तो च नादृष्टपरिकल्पना।। **तत्त्वबिन्दु**– श्लो. २

१०. **तत्त्वविन्दु** – पृ. ७

११. **ब्रह्मसूत्र**– अध्यासभाष्य।**ब्रह्मसूत्र** – १/३/८/२८ पर भाष्य

१२. **तत्त्वबिन्दु** – पृ. २३

१३. **भामती** – पृ. २६०

10

प्रमा—प्रमाणमीमांसा

(विशेषतः भाट्ट और वेदान्त मत के संदर्भ में)

ज्ञान का अर्थ साम्रगी और सत्ता के भावाभाव की व्यवहारानुगत प्रतीति है। इसका उपयोग सांसारिक दशा में कार्यसम्पन्नता और फलोपलब्धि में है। कार्य के सदसत् स्वभाव की तरफ उन्मुख ने होकर परिणामानुगामिता इसका मौलिक प्रयोजन सामान्यतः मालूम होता है। ऐसी स्थिति में प्रयोक्ता पदार्थ प्राप्ति के यथार्थायथार्थभाव की हेतुता के लिए उधेडबुन नहीं कर उससे प्राप्तव्य सामग्री को महत्त्वपूर्ण समझता है। इस प्रकार अवबोध के स्रोत और साध्य दोनों पक्ष ज्ञान की पूर्णता और प्रामाणिकता के विवचेन की अपेक्षा रखते हैं। स्थिति यह होती है कि ज्ञान से निर्दिष्यमान वस्तु की यथार्थता की-परीक्षा जितनी आवश्यक है उतनी ही अपेक्षा ज्ञान के हेतुभूत तत्त्वों की प्रामाणिकत्वाँप्रामाणिकत्व विवेचना की भी है। बावजूद इसके प्रथमदृष्ट्या वस्तुप्रयोज्यता ज्ञान के प्रारम्भिक विचार के अस्तित्व की उद्‌बोधकता में प्रेरक है इसलिए, तत्सहकारित्वेन ज्ञान-प्रकृति – विवेचन की ही प्रथम कर्तव्यता बनती है। यहाँ प्रतीति, बोध, अवबोधकता, समझ, उधेडबुन आदि सभी शब्द कहीं-न-कहीं ज्ञान पद की अर्थवत्ता प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट होता है कि एक ही वस्तु का बोध भिन्न-भिन्न रूपों में कमोवेश होता है। ऐसी परिस्थिति में प्रामाणिकता किसकी मानी जाय क्योंकि एक वस्तु एक काल और सीमा में किसी एक ही प्रकार की हो सकती है। यही एक निश्चयीकरण प्रमा है। 'मा' धातु का सामान्य अर्थ 'मान' है जिसका प्रयोग परिमाण आदि अर्थों में भी है। वस्तु के आकार-प्रकार और फैलाव के अनुरूप तदाकार परिणत इन्द्रियाँ जिस रूप में उसे ग्रहण करती है वही तत्तद्वस्तु का रूप है। अमूर्त अर्थ भी इन्हीं इन्द्रियों का विषय है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से भिन्न जो अमूर्त विषयक बोध होता है उसके ग्राहक स्रोत भी इन्हीं में से मिश्रित होकर उद्‌भूत है। इसीलिए प्रभा के कारण (source) के रूप में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य और चेष्टा तक नौ प्रमाण माने गये हैं। सम्प्रदाय-भेद से इनकी संख्या में मतवैभिन्य है। कुछेक एक प्रत्यक्ष प्रमाण से ही काम पूर्ण कर लेते

हैं तो कुछ दो से और अन्य चार से । मीमांसक और वेदान्ती प्रारम्भ के छः प्रमाणों की आवश्यकता बताते हैं, परन्तु 'व्यवहारे भाट्टनयः' उक्ति प्रसिद्ध है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रमा (ज्ञान) पहले है, उसका करण बाद में। 'प्रमा करणं प्रमाणम्' का यही भाव है।

प्रमा स्मृति से भिन्न ज्ञान है जो एक प्रकार का अनुभव है। इसके दो भेद हैं – यथार्थ अनुभव और अयथार्थ अनुभव। अयथार्थ ही मिथ्या ज्ञान है। 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः'। यथा रतजे इदं रजतमिति ज्ञानम्। रजतभाववति रजतत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थं इति। सैव प्रमा इति कथ्यते। यथा–जिस प्रकार क। अर्थ-पदार्थ है, उसी प्रकार का ज्ञान यथार्थ कहलाता है। अर्थात् जो वस्तु वास्तव में जिस तरह की हो उसी रूप में उसको समझना यथार्थ अनुभव है। ठीक विपरीत, जो वास्तव में इस तरह का न हो, पर उसे वैसा ही समझना अयथार्थ ज्ञान है। यही अप्रमा है[1] – 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानमयथार्थानुभवः। यथा रज्जौ अयं सर्प इति ज्ञानम् तथा च सर्पाभाववति रज्जौ सर्पप्रकारकोऽनुभव अयथार्थ इति। सैव अप्रमेति'।

प्रमा के स्वरूप निर्धारण से सभी पदार्थों की व्यवस्था स्वयं हो जाती है – 'प्रमाव्यवस्थितौ सर्वपदार्थव्यवस्थितिरिति' यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है।[2] इसलिए भिन्न-भिन्न आचार्यों ने प्रमा का लक्षण अपनी मान्यता और स्थापनाओं के अनुसार किया। लक्षणमाला ग्रन्थ में न्यायाचार्य शिवादित्य मिश्र ने 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' प्रमा का लक्षण किया और पदार्थ के मूल रूपात्मक परमार्थ ज्ञान (ultimate knowledge) को तत्त्वानुभूति कहा।[3] वही प्रमा है। 'यथार्थनुभूतिः प्रभा' नैयायिकों का प्रसिद्ध प्रमालक्षण है। यथार्थ का अभिप्राय अर्थानुरूप ज्ञान है। न कम न अधिक । परन्तु 'अर्थमनतिक्रम्य' तथा 'अर्थस्यसादृश्यम्' जैसे व्युत्पत्ति और विग्रह से यथार्थ का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाता और भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति तथा रजतस्थल में रजतज्ञानप्रकारात्मक अव्याप्ति से इस लक्षण को निर्दुष्ट नहीं माना जा सकता। 'प्रमा सम्यक् परिच्छित्तिः' उदयनाचार्य द्वारा प्रदत्त प्रमा का लक्षण है। अयथार्थ-ज्ञान में अतिव्याप्ति के वारण के लिए ही औदयन लक्षण में सम्यक् विशेषण तथा यथार्थेच्छा में अतिव्याप्त के निषेध के लिये। परिच्छित्तिः पद निविष्ट है। परिच्छित्ति का अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान है, परन्तु इसमें भी स्मृति और उपाधि खण्डित नहीं हो सकती, अतः यह लक्षण भी तुलाकोटि में नही है। बौद्धों ने प्रमालक्षण करते हुए कहा है– 'अव्यभिचार्यनुभवः प्रमेति'। यहाँ अव्यभिचारी का अभिप्राय अर्थाविनाभूतत्व है, किन्तु अतीत और अनागत अनुभवों में अव्यभिचारिता निर्णय अशक्य है। अतः इस लक्षण को भी समीचीन नहीं कही जा सकता।

मीमांसकों में भाट्टदेशीयों ने 'अविसंवाद्यनुभवः प्रमा' यह प्रमा का लक्षण किया है। लगता है, विसंवादिता और नोंक-झोंक से भागने के लिए मीमांसा में यह लक्षण

कर दिया गया है। परन्तु **खण्डनखण्डखाद्य** में टीकाकार मिश्र ने इस लक्षण को अनुपयुक्त ही सिद्ध किया है।[४]

अविसंवाद्यनुभवः प्रमा इति यद्भाट्टदेशीयलक्षणं तन्न युक्तम्, अविसंवादित्वस्य निर्वचनानर्हत्वात्। किं तावत् अविसंवादित्वम्? किं ज्ञानान्तरेण उल्लिख्यमानार्थवत्वम्, ज्ञानान्तरेण विपरीततया अप्रतीयमानार्थवत्वम्, प्रतीयमानव्याप्तविषयत्वं वा? न तावदाद्यः, धारावाहिणो भ्रमस्य प्रमात्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः', अनुपजातबाध भ्रमव्यापनात्। न तृतीयः, प्रतीयमानत्वस्य अनिरूपणात्। तस्मान्नेदं लक्षणं समीचीनमिति भावः।

परन्तु लक्षण की विवेचना से स्पष्ट होता है कि मीमांसक भी यथार्थ को ही प्रमा मानते हैं। 'अविसंवादि' कहने का तात्पर्य स्मृति और संशय का वारण करना है। इसलिए अज्ञात तत्त्व के अर्थज्ञान को प्रमा कहा जाता है। इस अनधिगत अर्थ के ज्ञान को यथार्थ होने को भाट्ट मत में प्रमा कहा गया है।

जहाँ तक उत्तरमीमांसा या वेदान्त का प्रश्न है, यहाँ भी प्रमा को यथार्थनुभव ही प्रतिपादित किया गया है। परन्तु अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, आदि दर्शनों में सत्ता के स्वरूप के अनुसार यथार्थ का विवरण तत्त्वदर्शनानुकूल सिद्धान्त पर आधारित है। वस्तुतः यहाँ प्रमा का अभिप्राय पारमार्थिक प्रतीति या अनुभूति से है। इसी प्रकार की प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है।

प्रमाण का प्रयोजन, स्वरूप एवं भेद :–

पूर्वमीमांसा में 'अनधिगतार्थगन्तृता प्रमाणं' यह प्रमाण-लक्षण बताया गया है। अनधिगत अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला करण प्रमाण है **शास्त्रदीपिका** में प्रमाण का लक्षण निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है।[५]

कारणदोषंबाधकज्ञानरहितम् अग्रहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्।

जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो, जो अन्य ज्ञान से बाधित न हो एवं दोषरहित हो, वही प्रमाण है। कुमारिल भट्ट ने प्रमाण का लक्षण करते हुए कहा है –

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्।।

प्रभाकर के अनुयायी शालिकनाथ ने 'प्रमाणनुभूतिः सा स्मृतेरन्या' यह लक्षण किया है। सांख्य का प्रमाण लक्षण इस प्रकार का है।[६] तच्च असन्दिग्ध-विपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः (**सां. त.** कारिका ४)। वेदान्तपरिभाषा आदि वेदान्त के ग्रन्थों से भी प्रतीत होता है कि उन्हें भी किसी-न-किसी रूप में अनधिगत शब्द प्रमाण के लक्षण में अभिप्रेत है। यद्यपि धर्मनीति के अनुसार प्रमाण का लक्षण – प्रमाणम् अविसंवादि ज्ञानम् – है तथापि बौद्ध नैयायिकों को प्रमाण के लक्षण में अनधिगत पद रखना अभीष्ट ही है। **प्रमाण समुच्चय** की टीका में स्पष्टतः कहा भी गया है–

'अज्ञातार्थज्ञापकं' प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।' **न्यायबिन्दु** के टीकाकार धर्मोत्तर का मत है कि अनधिगतविषयता ही प्रमाणता है – अत एवानधिगतविषयं प्रमाणम्। इस प्रकार सभी आचार्यों ने स्मृति की व्यावृत्ति के लिए प्रमाण के लक्षण में अनधिगत (अज्ञात) पद रखना उचित समझा है। इसी प्रकार के लक्षणों से व्युत्पन्न प्रमाण प्रमा के बोधक होते हैं अन्य तो बाधक होते हैं।

परन्तु तथ्यात्मक ज्ञान का स्थिरीकरण स्वयं एक जटिल प्रश्न है। प्रमाण की सत्यता का सत्यापन सहज तो नहीं सम्पाद्य अवश्य है। लेकिन ज्ञान की प्रमाणता की स्थापना नितान्त कष्टसाध्य है। यही प्रामाण्यवाद जैसे सिद्धान्त की विवेचना की अपरिहार्यता स्वीकार करने योग्य है। इसका प्रयोजन प्रमाण की प्रामाणिकता के साथ-साथ ज्ञान की भी प्रमाणता को सिद्ध करना है। इसीलिए ज्ञान से अबाधित और अदृष्ट बोध के साधक को ही प्रमाण की परिधि में रखा जाता है। इसकी संख्या एक से नौ तक अभी मान्य है। चार्वाक् दर्शन जहाँ एक प्रमाण प्रत्यक्ष मात्र को मानता है, वहाँ बौद्ध और वैशेषिक दो प्रमाण मानते हैं। जैन एवं सांख्य दर्शन आगम प्रमाण के साथ जहाँ इसकी संख्या तीन बताते हैं वहीं न्यायदर्शन उपमान सहित चार प्रमाण मानता है। मीमांसा दर्शन अर्थापत्ति को प्रमाण लेकर जहाँ इसकी संख्या ५ मानता है वहीं वेदान्त दार्शनिक ६ प्रमाण मानते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। पौराणिक संभव तथा ऐतिह्य नामक दो अन्य प्रमाण मानते हैं और तांत्रिक चैष्टा नामक प्रमाण के साथ इसकी संख्या नौ तक मानते हैं परन्तु सबका प्रयोजन एक ही है –यथार्थ ज्ञान या प्रमा का प्रतिपादन।

वाचस्पति मिश्र ने पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा द्वारा प्रतिपादित प्रमाण संख्या का 'त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्' की टीका में **सांख्यतत्त्वकौमुदी** से खंडित किया है और ५–६ प्रमाण संख्या को सिर्फ़ तीन में ही अन्तर्भूत किया है। इसी प्रकार के प्रमाण से जन्य ज्ञान प्रमा है, जो संशय-विपर्यय-विकल्प-स्मृतिरूपचित्तवृत्ति भिन्न चित्तवृत्ति है। इसकी तीन विशिष्टताएँ हैं :–

असंदिग्धत्व, अविपरीतत्व तथा अनधिगतत्व। असन्दिग्धत्व की विवेचना करते हुए वाचस्पति का कहना है कि प्रमात्मक ज्ञान निश्चित होता है। ठूँठे वृक्ष को देखकर यह स्थाणु है या पुरुष इस प्रकार के संदेहास्पद ज्ञान होने पर भी इसको प्रमात्मक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक अविपरीतत्व का प्रश्न है, यही कहना पडता है कि प्रमा विपरीत ज्ञान नहीं है। क्योंकि यह प्रमा तद्वििति तत्प्रकारक ज्ञान है। शुक्ति में शुक्तित्वप्रकारकशुक्तिविशेष्य ज्ञान प्रमा शब्द से बोध्य है। इसके विपरीत रजतत्वप्रकारक शुक्तिविशेष्यक ज्ञान नहीं। अनधिगतत्व वह ज्ञान है, जो पहले से प्राप्त नहीं है। यह सर्वथा नया ज्ञान है। इसी आधार पर वाचस्पति ने संशय, विपर्यय तथा स्मृति को प्रमा नही स्वीकार किया है। प्रमा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए

वाचस्पति का यह पक्ष है कि यह चित्तवृत्ति रूप है। इन्द्रिय जब पदार्थ से सन्निकृष्ट होती है, तब शरीरस्थ बुद्धि का तम अभिभूत हो जाता है। यह कार्य उस बिन्दु पर होता है, जहाँ इन्द्रिय-बुद्धि संयोग होता है। इस तम के पराभूत होने के बाद तैजसं बुद्धि इन्द्रियमार्ग से बहिर्भूत होकर विषय देश में पहुँचती है और तदाकारता में परिणत हो जाती है। साथ ही घटादिविषय बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने लगता है। इसी परिवर्तन को चित्तवृत्ति नाम से जाना जाता है। परन्तु यह गौण प्रमा है। इसका स्वरूप 'अयं घटः' है जिसका भान नहीं होता है। नैयायिकों के अनुसार इसको व्यवसाय कहा जाता है चूँकि बुद्धि जड़ है, अतः यह वृत्ति भी जड़ है। इसका रूप असंदिग्धाविपरीतानधिगत होता है। परन्तु जब एवंमूलक बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वह बुद्धि को सर्वात्मना प्रतिबिम्बित करता है। क्योंकि पुरुष सांख्य में विभु है। यह प्रतिबिम्ब पदार्थ में स्वयं प्रतिबिम्बित होता है। मोहग्रस्त होने से पुरुष भी अपने मूल रूप को विस्मृत कर जाता है और उसी घट के साथ अपना तादात्म्य संबंध बनाकर तदनुकूल बुद्धि से अपने को युक्त मानने लगता है। यही प्रमा का स्पष्ट स्वरूप है। 'घटज्ञानवान् अहम्' यही इसकी उपलब्धि है।

यद्यपि वाचस्पति ने प्रमाण एवं प्रमा के विषय में स्वतंत्र रूप से कहीं पृथक् विवेचना नहीं की है फिर भी टीकाग्रन्थों में उनके विचार का आभास होता है। कपिल के 'त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्' की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने न्याय के उपमान और भट्ट तथा वेदान्ती के अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को तो स्वीकार नहीं ही किया है, उपमान और अर्थापत्ति को इन्हीं तीन प्रमाणों – प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द – में यत्र-तत्र अन्तर्भूत किया है। सभंव ऐतिह्य और चैष्टा तो इस तरह के टेक्नोलौजी के शब्द की तरह है, जिनका अन्य दर्शनों में उल्लेख मात्र भी नहीं है। वाचस्पति ने **तात्पर्यटीका** में अर्थापत्ति को केवल व्यतिरेकि अनुमान के अधीन माना है। उनका पक्ष है कि इसको स्वतंत्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ 'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' – देवदत्त दिन में नहीं खाता किन्तु मोटा है। लेकिन इस तरह के अनुभव में शंका है कि बिना भोजन के मोटा होना संभव नहीं है। अतः रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है। किन्तु यह तो अनुमान का विषय है। इसका स्वरूप इस प्रकार का बनता है। (प्रतिज्ञा) देवदत्त रात्रि में खाता है। (हेतु) दिन में न खाने पर भी मोटा होने से (व्याप्ति) जो रात्रि में नहीं खाता, वह दिन में न खाने पर मोटा नहीं होता, जैसे दिन-रात में न खाने वाला व्यक्ति पतला होता है। (उपनय) यह देवदत्त ऐसा नहीं है (निगमन) इसलिए वैसा नहीं है। इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान से रात्रि भोजन की प्रतीति हो जाती है। अतः अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। फलतः मीमांसकों के अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप नहीं बनता है और अनुपपद्य- मानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः, लक्षण उचित और उपयोगी नहीं बन पाता।[9] मीमांसकों का पक्ष यह है कि जीवित चैत्र का

घर पर होना बाहर नहीं देख सकने के कारण कल्पना से कर सकते हैं कि वह बाहर नहीं होगा। बहिर्भाव की कल्पना-उपपादक अर्थापत्ति प्रमा है और उपपाद्य गृहाभाव अर्थापत्ति प्रमाण है। यह बहिर्भाव अनुमान में गतार्थ नहीं हो सकता। वाचस्पति ने मीमांसकों के इस तर्क को **सांख्यतत्त्वकौमुदी** में खण्डित करने के लिए अनुमान की प्रक्रिया इस तरह बताई है :—

जीवत्वे सति स्वगृहे वर्तमानत्वात्, स्वशरीरवत्।

यह व्यतिरेकि अनुमान का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त वाचस्पति के मत में अन्वयव्याप्ति भी बनती है:— यदा अव्यापकः सन् एकत्र नास्ति तदा अन्यत्र नास्ति। व्यतिरेकव्याप्ति का स्वरूप है :— यदा अव्यापकः अन्यत्र नास्ति तदा एकत्र अस्ति (अन्यत्र नास्ति इति न)।[८]

इस प्रकार जीवित एवं अव्यापक चैत्र के गृहाभावरूप प्रत्यक्ष हेतुत्वेन बहिरस्तिभाव का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है। फलतः मीमांसकों के अर्थापत्ति प्रमाण की मान्यता वाचस्पति ने न तो **तात्पर्यटीका** में स्वीकार की और न हि **सांख्यतत्त्वकौमुदी** में।[९]

जहाँ तक उपमान और अभाव का प्रश्न है सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने इनका भी खंडन किया है। वाचस्पति की नैयायिक मान्यता के अनुसार इन दो प्रमाणों के साथ संभव और ऐतिह्य का भी न्यायसम्मत चार प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उपमान के स्वरूप के विषय में सबकी प्रायः धारणा एक ही है जो इसे स्वीकार करते हैं:— 'उपमितिकरणमुपमानम्'। संज्ञासंज्ञिसंबंधज्ञानमुपमितिः। तथा हि कश्चिद् गवयपदार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गवय' इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति तदनन्तरमसौ गवयशब्दवाच्य इत्युपमितिरुत्पद्यते। अर्थात् गौ का प्रत्यक्ष करने वाला कोई शहरी व्यक्ति जंगल में जाकर गोसदृश जीव का प्रत्यक्ष करता है, जिसने पूर्व में ही किसी आरण्यक से 'गोसदृश्यो गवयः' वाक्य सुन लिया है, और सादृश्यज्ञान के तत्काल स्मरण से वह दृष्ट जीव को गवय के रूप में बोधित करता है। यह स्मरण ज्ञान उपमिति और उसका करण प्रथम प्रत्यक्ष ज्ञान उपमान है। ये दोनों ज्ञान प्रतियोगी-अनुयोगी के रूप में एकवत् प्रतीत होने पर भी भिन्न हैं। इस संदर्भ में वाचस्पति ने सांख्यप्रमाण की विवेचना में कहा कि चूँकि दोनों में सादृश्यधर्म एक ही है जिसका प्रत्यक्ष पूर्वकाल में हुआ था और उसी का स्मरण वर्तमान में होता है, इसलिए उपमान जैसी स्थिति न बनकर प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव है। इसी प्रकार अभाव के ग्राहक असाधारण कारण को अनुपलब्धि वेदान्तियों ने माना है — 'ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवा—साधारणकारणमुपलब्धि,' अर्थात् ज्ञानरूपी करण जिसका जनक न हो ऐसा जो अभाव का अनुभव उसका जो असाधारण कारण हो उसको अनुपलब्धि कहते हैं। जैसे देवदत्त किसी को दुःखी देखकर कहता है (क) यह धर्माभाववान् है, (ख) क्योंकि यह दुःखी है। इस प्रकार यहाँ धर्माभाववान् का अनुभव

होता है जो अतीन्द्रिय का विषय है और प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य नहीं है। यही अभाव ज्ञान है। मीमांसकों का इसके पक्ष में तर्क है कि इन्द्रियों के वस्तु के साथ संबंध होने पर ही प्रत्यक्ष होता है। अभाव के साथ इनका सन्निकर्ष नहीं हो सकता, क्योंकि संबंध दो प्रकार से होता है संयोग से और समवाय से। संयोग एक गुण है जो द्रव्य में रहता है। अभाव द्रव्य नहीं है। अतः संयोग संबंध नहीं है। अयुतसिद्ध संबंध समवाय है जो अभाव में नहीं होता और इस प्रकार यह प्रत्यक्षगम्य नहीं है। अभाव के प्रतिपादन के लिए नैयायिक विशेषण-विशेष्यभाव संबंध स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि अभाव का प्रत्यक्ष तो संयोग एवं समवाय संबंध के बिना भी विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष के द्वारा हो जाएगा। अतः अभाव को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।[10] सम्भव नामक प्रमाण भी इसी में अन्तर्भूत हो जाता है। ऐतिह्य तो शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आप्तवचन– 'अस्मिन् वटवृक्षे यक्षिणी निवसति' की तरह ही है।

इस प्रकार सिद्ध है कि वाचस्पति के मत में मीमांसा प्रतिपादित अर्थापत्ति तथा वेदान्तसम्मत अनुपलब्धि प्रमाण सांख्य के त्रिविधं प्रमाणमिष्टम् तथा न्याय के 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' के अन्तर्गत ही सिद्ध है।[11] वस्तुतः वाचस्पति ने मात्र टीकाकार के रूप में ही तीन या चार प्रमाणों की व्याख्या की है।

---

१. **द्रव्यसंग्रह** – पृ. २५
२. **षड्दर्शनरहस्य** – पृ. ४६
३. **खण्डनखण्डखाद्य** – पृ. १०३
४. **वहीं** – पृ. १४३
५. **शास्त्रदीपिका** – पृ. ४५
६ **सांख्यतत्त्वकौमुदी** – पृ १४
७. **भारतीय दर्शन** – राधाकृष्णन– पृ. ५४५
८. **न्यायवार्तिकतात्पर्यसूची** – पृ. ४
६. **सांख्यतत्त्वकौमुदी** 'त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्' पर वाचस्पति की कौमुदी।
१० **भारतीय दर्शन** – पृ. ३८६
११. **न्यायसूत्र** – पृ. ४